श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष : ६
अंक : ३
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा

निगमामृत

श्रद्धा-सूक्त : ऋग्वेद १०।५१

७.

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥

श्रद्धा देवीको पुकारते हम प्रातः-पूर्वाह्ण,
श्रद्धाके ही आवाहनमें विता रहे मध्याह्न।
करते हैं सूर्यास्त-समय भी श्रद्धाका आह्वान,
श्रद्धे देवि करो हम सबमें श्रद्धाका आधान ॥

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य
एवं संस्कृति-प्रधान
मासिक पत्र
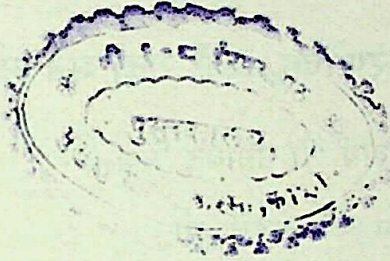
प्रवर्तक
पुण्यश्लोक जुगलकिशोर बिरला

वर्ष : ९ अङ्क : ३
अक्तूबर, १९७३
श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८

वार्षिक : ७ रु०
आजीवन : १५१ रु०

प्रबन्ध-सम्पादक
देवधर शर्मा

सम्पादक-मण्डल
आचार्य सीताराम चतुर्वेदी
पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री
गोविन्द नरहरि वैजापुरकर
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

प्रकाशक
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा
दूरभाष : ३३८

माँ दुर्गे तेरे चरणोंका, करे सदा मन ध्यान !

— आचार्य श्री गंगाधर मिश्र —

रवि शशि वह्नि नेत्रसे जो
करती चालित जग प्राण
माँ दशभुजा विश्व - ज्योतिः
तम-भ्रमका हो अवसान।

भूमिरूपमें धारण करती
जल बन नवजीवन रस भरती
संयमकी बन शक्ति, प्राणका
क्षयसे करती त्राण।

कणमें क्षणमें शून्य-निलयमें
तुम सर्वत्र ललित नव वयमें
मृत्यु - विजयका भक्त - साधकों
को देती वरदान।

सर्जन - पालन - ध्वंसन - कारण
निरुपम सुषमा करती धारण
माँ दुर्गे तेरे चरणोंका,
करे सदा मन ध्यान।

●

अनुक्रम

मासिक व्रत, पर्व एवं महोत्सव

[संवत् २०३० कार्तिक कृष्ण अमावास्या शुक्रवार २६-१०-'७३ से मार्गशीर्ष कृष्ण अमावास्या शनिवार २४-११-'७३ तक]

अक्तूबर : १९७३ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
२६	शुक्रवार	स्नान-दानकी अमावास्या, प्रतिपद्में अन्नकूट।
२७	शनिवार	काशीमें अन्नकूट, भैयादूज।
२९	सोमवार	वैनायक गणेशचतुर्थी व्रत।
३०	मंगलवार	सूर्यषष्ठी-व्रत।

नवम्बर : १९७३ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
३	शनिवार	गोपाष्टमी।
४	रविवार	अक्षयनवमी।
६	मंगलवार	प्रबोधिनी एकादशी व्रत: सबके लिए, भीष्मपञ्चक-आरंभ।
८	गुरुवार	प्रदोष १३ व्रत, निशीथव्यापिनी वैकुण्ठचतुर्दशी।
१०	शनिवार	कार्तिकी पूर्णिमा, गुरुनानक जयंती, भीष्मपंचक-निवृत्ति।
१३	मंगलवार	संकष्टी श्रीगणेशचतुर्थी व्रत।
२०	मंगलवार	उत्पन्ना एकादशी व्रत, सबके लिए।
२२	गुरुवार	प्रदोष १३ व्रत, मासशिवरात्रि व्रत।
२४	शनिवार	स्नानदान, श्राद्धके लिए अमावास्या।

प्रत्यक्ष-दर्शियोंके भावभीने शब्द-सुमन

☆

श्रीकृष्ण जन्मस्थानके दर्शन करने पूज्य माँके साथ आना हुआ। दर्शनोंसे मन बहुत आनन्दित हुआ। साथमें सीताराम जी मोहताकी पत्नी भी थीं।

कृष्णा देवी मोहता
वी० २६, ग्रेटर कैलाश,
नई दिल्ली

आज भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमि देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। देखकर बड़ी प्रसन्नता एवं आत्माको शान्ति मिली।

वजेश्वर प्रसाद सिंह
वड़हिया-मुंगेर (बिहार)

भगवत्कृपासे आज श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस स्थानकी व्यवस्था तथा मन्दिरको देखकर श्रीकृष्ण-चरणोंमें आत्म-समर्पणकी प्रेरणा मिलती है।

श्रीनाथ प्रसाद अग्रवाल
नगर अभियन्ता
नगर महापालिका, आगरा।

भगवान श्रीकृष्णकी जन्मभूमिके दर्शनका आज सौभाग्य प्राप्त हुआ। देखकर बड़ी खुशी हुई कि सभी कर्मचारी अपना-अपना काम बहुत ही अच्छी तरहसे कर रहे हैं। पूज्य बाबूजीका स्मरण-चिह्न है इसलिये और भी अधिक खुशी हुई।

राधा मोहता
रत्नाकर नारायण डावलकर
रोड, बम्बई—६

I was really impressed by the sights of various temples of Mathura and specially a spiritual feeling came over me when I realized that this was the birth place of Lord Krishna.

Upendra Singh
Suva Fiji.

I had the great pleasure in visiting the birth place of Sri Krishnaji on his birth day.

This place is very calm and peaceful which can lead a man to salvation.

H. K. Misra
Speaker,
Orissa Legislative Assembly
P. O. Bhubaneshwar (Orissa)

We are most privileged to come to this most sacred place, The Birth place of our Lord, The Supreme personality of Godhead Sri Krishna. His apperance is just to please his devotees and to remove the burden of the world. We are privileged to fall before his Lotus feet. And we pray that all the world's people will chant His holy name HARE KRISHNA, HARE KRISHNA, KRISHNA, KRISHNA, HARE, HARE. HARE RAMA, HARE RAMA, RAMA, RAMA, HARE, HARE, And to visit this inspiring place.

Mr. & Mrs. Walsh
Los Angeles, California
(U. S. A.)

I came from Thailand and Stayed in India for almost six years, but I never thought that I am so lucky to see the birth place of Krishna. It is, marvellouse, I hope that someday sooner or later I will come back again and see Hinduism go more upward & for the whole world to see. I sincerely wish all the people of Hinduism will keep up this beautiful religion.

A. Voot Apibalpuvanart
I. Phibulvate, Sukumvit
71 Bank K-11, Thailand.

Visited the Birth place of Lord Krishna's-much pleased. Very good. Well maintained.

Mr. & Mrs. P. Raghu
Chatsworth, Durban
South Africa.

वर्ष : ९] मथुरा : अक्तूबर, १९७३ [अङ्क : ३

सुख, शान्ति, ब्रह्मनिर्वाण एवं ध्यानयोग

इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं; उन्हें संस्पर्शज भोग कहा गया है। वे यद्यपि विषयासक्त मनुष्योंको सुखरूप प्रतीत होते हैं; तथापि वास्तवमें दुःखकी ही उत्पत्तिके स्थान हैं, क्योंकि सभी भोग आदि-अन्तवाले हैं। एक दिन उनकी उत्पत्ति होती और फिर किसी दिन उनका अन्त भी हो जाता है। जो आदि और सान्त हैं, वे सुखरूप नहीं हो सकते। उत्पत्ति-विनाशशील, अशाश्वत पदार्थ क्या सुख दे सकते हैं ? उनमें सुखकी प्रतीति भ्रान्तिमात्र ही है। जो सुखका भ्रम उत्पन्न करे और शाश्वत सुखरूप न हो, वह पदार्थ दुःखरूप ही होता है। अतः भोग दुःखके ही हेतु हैं। इसीलिए जो विद्वान् हैं, विवेकशील हैं, वे पुरुष उन भोगोंमें नहीं रमते। दुःखरूप पदार्थोंमें सुख मानना और उनमें रम जाना समझदारीकी बात नहीं है। ऐसा करनेवाला अपने मोह और मूढ़ताका ही परिचय देता है।

सुख भोग भोगनेमें नहीं है, अपितु भोगवृत्तिको नियन्त्रित करनेमें है। जो इसी जीवनमें शरीर छूटनेसे पहले काम और क्रोधके वेगको सह लेनेमें समर्थ होता है, वही योगी है और वही सुखी है। जो काम-क्रोधके वेगसे अभिभूत हो जाता है, वह कदापि योगयुक्त या सुखी नहीं हो सकता। सुख बाहर नहीं, अपने भीतर ही है।

बाह्य जगत् तो अनित्य और असुख है। क्षणभंगुर और दुःखरूप ही है; वहाँ क्या सुख मिलेगा ? अतः जो पुरुष अपने भीतर, अन्तरात्मामें ही सुखका अनुभव करता है, अन्तरात्मामें ही रमता है तथा जिसे अपने भीतर ही ज्योति, ज्ञानमय आलोक प्राप्त होता है; वह ब्रह्मभूत है, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ अभिन्न भावको प्राप्त है। ऐसा ज्ञानयोगी ही ब्रह्मनिर्वाण (सायुज्य मोक्ष) को प्राप्त होता है। यह ब्रह्मनिर्वाण सबके लिए सुलभ नहीं है। इसे तो वे ही ऋषि प्राप्त करते हैं, जिनके सारे पाप नष्ट हो गये हैं, जिनकी सारी द्विविधा -सारे संशय निवृत्त हैं, जिनका वशीभूत मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है तथा जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर हैं। ऐसे ब्रह्मवेत्ताओंको ही ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होता है। जो काम और क्रोधसे सर्वथा रहित हैं, जिनका चित्त पूर्णतः नियन्त्रित है, जिन्होंने परब्रह्म परमात्माका अपरोक्ष ज्ञान या साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है; ऐसे सर्वत्यागी ज्ञानियोंके लिए सब ओर ब्रह्मनिर्वाण (शान्तस्वरूप परब्रह्म) ही विद्यमान है।

बाह्य विषय-भोगोंका चिन्तन न करके उन्हें मनसे बाहर निकाल दे। नेत्रोंकी दृष्टिको दोनों भौहोंके बीच स्थापित करे। नासिकाके भीतर विचरनेवाले प्राण और अपानको सम करे। इन्द्रिय, मन और बुद्धिको नियन्त्रित, वशीभूत रखे। मननशील एवं मोक्षपरायण हो इच्छा, भय और क्रोधसे ऊपर उठ जाय, इनसे सर्वथा अछूता रहे। जिसकी ऐसी स्थिति है, वह सदा मुक्त ही है। परन्तु जो इन ऊपर बताये गये समस्त साधनोंको न कर सकता हो, उसके लिए एक अत्यन्त सुगम-साधन भी है। वह यह कि मुझको (भगवान् श्रीकृष्णको) सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंका भोक्ता समझे, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी महेश्वर जाने और समस्त प्राणियोंका परम सुहृद् समझ ले। यही मेरा यथार्थ परिचय है; जो इस रूपमें मुझे जान ले, समझ ले, वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है। उसके लिए फिर कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। उसे मैं ही मिल जाता हूँ।

(गीता : अध्याय ५)

बन्धनमुक्त कौन ?

जो सबका मित्र, सब कुछ सह लेनेवाला, मनके निग्रहमें तत्पर, जितेन्द्रिय, भय और क्रोधसे रहित तथा आत्मवान् है, वह मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जो नियमपरायण और पवित्र रहकर सब प्राणियोंके प्रति अपने-जैसा बर्ताव करता है, जिसके भीतर सम्मान पानेकी इच्छा नहीं तथा जो अभिमानसे दूर रहता है वह सर्वथा मुक्त ही है।

(महाभारत)

ब्रह्माद्वारा की गयी देवीकी स्तुति

स्वाहा तुम्हीं तुम हो स्वधा, तुम वषट्कार स्वरात्मिका।
नित्ये, सुधा तुम अक्षरोंमें स्थित त्रिधा मात्रात्मिका ॥ १ ॥
नित्या अनुच्चार्या विशेष अर्धमात्रा भी तुम्हीं।
जननी परा, हे देवि, सन्ध्या और सावित्री तुम्हीं ॥ २ ॥
हे देवि, यह सब धृत तुम्हींसे, तुम जगत् करतीं सृजन।
पालित तुम्हींसे सर्वदा लयमें तुम्हीं करतीं अशन ॥ ३ ॥
तुम हो सृजनमें सृष्टिरूपा, पालतीं स्थितिरूपिणी।
एवं जगन्मयि, अन्तमें संसार - संहृति - रूपिणी ॥ ४ ॥
तुम हो महाविद्या महामाया महामेधा तुम्हीं।
संस्मृति महामोहा महादेवी तथैव महासुरी ॥ ५ ॥
तुम कालरात्रि महानिशा त्यों मोहकी हो यामिनी।
तुम दारुणा, सबकी प्रकृति त्रयगुण तथैव विभाविनी ॥ ६ ॥
श्री ईश्वरी ह्री बोधरूपा बुद्धि तुम हो शान्ति भी।
तुम पुष्टि तुष्टि तथा तुम्हीं लज्जा तुम्हीं हो क्षान्ति भी ॥ ७ ॥
तुम खड्गिनी तुम चक्रिणी घोराति गदिनी शूलिनी।
आयुध भुशुण्डी शर परिघधर चापिनी तुम शंखिनी ॥ ८ ॥
तुम सौम्य सौम्यतरा तथा निःशेष सौम्योंसे ललित।
परमेश्वरी तुम हो परापरकी अतः परमा कथित ॥ ९ ॥
अखिलात्मिके, जो कुछ कहीं सत् या असत् है वस्तुघन।
जो शक्ति उनकी वह तुम्हीं, मैं कर सकूँ फिर क्या स्तवन ॥ १० ॥
तुमसे वही निद्रित, करें जो जग सृजन, पालन, हरन।
फिर इस जगत्में कौन कर सकता तुम्हारा स्तुति-कथन ॥ ११ ॥
ईशान विष्णु तथैव मुझको जब तुम्हींसे प्राप्त तन।
तब शक्ति है किसमें तुम्हारा कर सके जो संस्तवन ॥ १२ ॥
हे देवि, संस्तुत यों, उदार प्रभाव निज प्रकटित करो।
दुर्धर्ष मधु-कैटभ असुर दो, मोहसे इनको भरो ॥ १३ ॥
अच्युत जगत्पतिको प्रबाधित और तुम कर दो त्वरित।
उनको महासुर - घातकारक बोधसे भर दो त्वरित ॥ १४ ॥

— अनु० श्री कमलाप्रसाद अवस्थी 'अशोक' —

श्रीकृष्ण-कथा : २

मथुरा

श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र'

★

मातरं पितरं भ्रातॄन् सर्वांश्च सुहृदस्तथा ।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि ॥

—भागवत १०.१.६७

सृष्टिके प्रारम्भमें प्रलय-पयोधिके मध्य उन शेषशायी भगवान् नारायणकी नाभिसे निखिल-लोकात्मक पद्म और उस अनन्त सरोजकी कर्णिकापर अरुणवर्ण, चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा—उन लोक-स्रष्टा चतुराननके मानसपुत्रोंमें ही तपोमूर्ति भगवान् अत्रि और महर्षि अत्रिकी पत्नी महासती अनसूयाका त्रिभुवन-विख्यात पातिव्रत्य-प्रभाव क्या विवेचनाकी अपेक्षा करता है ? महर्षि कर्दमकी उन लोकपूज्या पुत्रीने अपने तपोबल एवं पातिव्रत्यके प्रभावसे त्रिदेवोंको अपना पुत्र बनाया । लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा ही अपने अंशसे अत्रि-तनय चन्द्रदेव हुए ।

भगवान् चन्द्रदेवके पुत्र बुध और उस पाद्म कल्पसे इस वर्तमान श्वेतवाराह कल्पके इस अट्ठाईसवें कलियुगतक चला आता परम प्रतापी क्षत्रियोंका सोमवंश—कैसे सम्भव है कि कोई इतनी दीर्घ परम्पराकी नामावली भी रख सके ? वर्तमान मन्वन्तरमें सोमवंशमें महाराज ययातिके ज्येष्ठ पुत्र यदुकी राजधानी मथुरा हुई । महाराज यदुके पुत्र क्रोष्टाके वंशमें ही महाराज दशार्हकी परम्परामें सात्वत हुए । इन्हींके नामपर यादवगण 'सात्वतीय' कहे जाते हैं और 'दाशार्ह' भी । महाराज सात्वतके पुत्रोंमें वृष्णि परम धार्मिक हुए । अपने पूर्वज महाराज ययातिके शापको आदर देनेके लिए उन्होंने राजसिंहासन अस्वीकार किया और सिंहासनपर उनके भाई अन्धक आसीन हुए । महाराज अन्धकका ही दूसरा नाम महाभोज है और इसीसे उग्रसेनादि 'भोजवंशी' कहे जाते हैं । यद्यपि वृष्णिने सिंहासन स्वीकार नहीं किया, फिर भी वे मथुरामें महाराजका ही सम्मान पाते रहे और आगे भी उनके वंशज महाराज अन्धकके वंशजोंके लिए सम्मान्य ही रहे । इसीसे जब दोनों वंशोंमें पर्याप्त अन्तर हो गया, तब अन्धक-वंशीय राजकुलने वृष्णि-वंशमें अपनी कन्याएँ देना अपने लिए गौरवकी बात समझी ।

महाराज वृष्णिके वंशमें आगे विदूरथ जी हुए और उनके पुत्र देवमीढ़के ही पुत्र हुए शूरसेनजी । श्रीकृष्णचन्द्र अपने पूर्वज महाराज वृष्णिके कारण 'वार्ष्णेय' और पितामह

शूरसेनके कारण ही 'शौरि' कहे जाते हैं। शूरसेनकी पत्नी महादेवी मारषाके दस पुत्र हुए—वसुदेवजी, देवभाग, देवश्रवा, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कङ्क, शमीक, वत्सक और वृक। वसुदेवजीके जन्मके समय आकाश देवताओंकी दुन्दुभियोंके निनादसे गुञ्जित हो गया था और इसीसे उनका एक नाम 'आनकदुन्दुभि' भी पड़ गया।

महाराज अन्धकके वंशमें आगे महाराज आहुक हुए। महाराज आहुकके दो पुत्र हुए, देवक और उग्रसेन। उग्रसेनजी ही पिताके पश्चात् मथुराके सिंहासनपर अभिषिक्त हुए। उग्रसेनके नौ पुत्र हुए : कंस, सुनामा, न्यग्रोध, कङ्क, शङ्कु, सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टिमान् और तुष्टिमान्। इनके अतिरिक्त महाराज उग्रसेनके पाँच कन्याएँ हुईं : कंसा, कंसवती, कङ्का, शूरभू और राष्ट्रपालिका। इन कन्याओंका विवाह वसुदेवजीके भाइयोंसे हुआ। महाराज उग्रसेनके भाई देवकजीके चार पुत्र और सात कन्याएँ हुईं। पुत्रोंके नाम हैं : देववान्, उपदेव, सुदेव और देववर्धन तथा कन्याओंके नाम हैं : धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी।

वसुदेवजीका विवाह महाराज उग्रसेनके भाई देवककी बड़ी कन्या धृतदेवासे हुआ और फिर देवकजीने अपनी दूसरी पुत्री शान्तिदेवाका भी उन्हींसे विवाह कर दिया। इसी क्रमसे उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता और सहदेवाका पाणिग्रहण भी वसुदेवजीने किया। इस कुलसे बाहर उन्होंने रोहिणीजीका भी पाणिग्रहण किया। अन्तमें महाराज उग्रसेन, श्री देवकजी और युवराज कंसका आग्रह था कि देवकी का विवाह भी उन्हींके साथ हो।

कंस—वह परमपराक्रमी शूर, यह ठीक है कि वह उद्धत—उच्छृङ्खल प्रकृतिका है और उसने अपनी प्रकृतिके नरेशोंसे ही मित्रता कर रखी है; किन्तु उसकी शक्तिपर मथुराका सिंहासन चक्रवर्ती हुआ है। दूसरोंकी तो क्या चर्चा, मगधराज जरासंधने युद्धमें सन्तुष्ट होकर अपनी दोनों कन्याओंका उससे विवाह कर दिया है। मथुराकी सेनाका वही महासेनानायक है और सेनामें उसने अपनी प्रकृतिके ही असुर-नायक एकत्र कर लिये हैं। उसका आग्रह कैसे टाला जा सकता है? अपने चाचाकी सबसे छोटी कन्यासे वह बहुत स्नेह करता है। उसकी सब बहनें जब वसुदेवजीके ही गृहमें उनकी या उनके भाइयोंकी पत्नियाँ हैं, तब यह सबसे छोटी बहन अकेली कहाँ जाय? बहनोंके साथ तो उसको कहीं भी परायेपनका बोध एक दिन भी न होगा। भला, मथुरासे बाहर उसे कैसे ब्याहा जाय और मथुरामें तो ये वृष्णिश्रेष्ठ वसुदेवजी ही सर्वोत्तम पात्र हैं। कंसके आग्रहकी रक्षा करनी ही थी वसुदेवजी को।

× × ×

मथुराके दिग्विजयी युवराज कंसकी सर्वाधिक स्नेह-भाजन, सबसे छोटी बहन देवकीका विवाह है। युवराजके उल्लासका कोई ठिकाना नहीं; किन्तु पता नहीं, क्यों वसुदेवजीको इस धूमधाममें अभिरुचि नहीं हो रही है। उन्हें लगता है, यह राजस आवेग है और इसपर भरोसा नहीं किया जा सकता। कोई अज्ञात आशङ्का उन्हें अकारण ही क्लान्त, शिथिल कर रही है। ये

यदुकुलके परमाचार्य, दैवज्ञ-शिरोमणि महर्षि गर्ग—इतनी उमंग तो इनमें कभी देखी नहीं गयी। पता नहीं, क्यों बार-बार उनका शरीर रोमाञ्चित होता है, उनको नेत्र पोंछने पड़ते हैं और गद्गद स्वर उनके मन्त्रपाठको थकित, विस्मित कर देता है। ऐसी क्या बात है? पूछनेपर भी वे कुछ बतायेंगे, ऐसी कहाँ आशा है? जो गूढोक्ति वे कह जाते हैं, भला कौन समझ सकता है उसे?

विवाह सम्पन्न हुआ। महाराज उग्रसेनने अपार भेंट दी दम्पतीको। युवराज कंस तो संतुष्ट ही नहीं हो रहे थे। बहनको क्या दे दें—जैसे उनके लिए सम्पूर्ण सम्भार आज अत्यन्त तुच्छ था। महाभाग देवकजीने चार सौ ऐरावतके कुलमें उत्पन्न स्वर्णमालाओंसे सुसज्जित महागज, पन्द्रह सहस्र श्यामकर्ण अश्व और छः सहस्र तीन सौ रथ एवं अपार मणि-रत्न, दास-दासियाँ आदि प्रदान किये। अन्ततः यही तो उनकी सबसे छोटी कन्याका विवाह था!

'युवराज, अब लौटें!'—वसुदेवजीने रथपर बैठनेके लिए प्रस्तुत होते हुए आग्रह किया।

'आप, विराजें!' यह क्या—क्या मथुराके चक्रवर्ती साम्राज्यके युवराज सूतका काम करेंगे? लेकिन कंस तो कूदकर सूतके स्थानपर बैठ चुके और रथरश्मि सम्हाल ली उन्होंने। बेचारा सूत एक ओर खिसक गया।

'मैं युवराजके इस सम्मान-दानसे ही अनुगृहीत हूँ!' भला हठी कंसके सम्मुख वसुदेवजीका आग्रह टिक सकता है? आज तो वह बहनके स्नेहमें जैसे अपनेको ही भूल गया हो।

'युवराजके लिए इतना ही बहुत है! अब आप वसुदेवजीको आज्ञा दें।' महर्षि गर्गकी वाणीमें आग्रह, आदेश, आशङ्का; क्या है—कहा नहीं जा सकता।

'मैं देवकीको उसके सौधतक पहुँचाकर लौटता हूँ।'—कंसने हाथ जोड़कर मस्तक तो झुका दिया आचार्यको; किन्तु उसकी वाणीका गर्व स्पष्ट है। वह आदेश माननेको प्रस्तुत नहीं।

'प्रभु मङ्गल करें!'—यह भी कोई समयोचित आशीर्वाद है? कौन पूछे आचार्यसे। उनकी कालातीत दृष्टि तो पता नहीं क्यों, एकबार ऊपर उठी और अत्यन्त गम्भीर हो गये वे। अवश्य ही युवराजने उनका आदेश स्वीकार नहीं किया, यह उन्हें रुचिकर नहीं लगा। लेकिन युवराज कहाँ ध्यान देते हैं? विनय कहाँ है उनके स्वभावमें?

× × ×

'मूर्ख कंस!'—कंस स्वयं सारथि बनकर वसुदेवजी एवं देवकी को रथमें बैठाये लिये जा रहा था। यह इस प्रकार कौन उसे पुकारनेका साहस कर रहा है? रथकी रश्मि उसने खींच ली। अश्व स्थिर हो गये। क्रोधसे नेत्र जल उठे कंसके। उसने इधर-उधर देखा। वह चिल्लाना ही चाहता था, पर शब्द तो ऊपरसे आ रहा है। वसुदेवजी, देवकी और

रथका सूत भी चौंक गया। सब आश्चर्यसे ऊपर देखने लगे। ऊपर-ऊपर आकाशमें न तो कोई विमान है और न देवता; किन्तु शब्द तो बहुत स्पष्ट हैं। वह किसी अलक्ष्यकी वाणी कह रही है—'मूर्ख कंस! तू जिसे इतने सम्मानसे लिये जा रहा है, उसीके आठवें गर्भसे उत्पन्न सन्तान तेरा वध करेगी!'

'मेरा वध!'—कंस चौंका। 'उसका वध होगा! उसकी मृत्यु होगी! वह तो त्रिभुवन-विजयी होना चाहता है। वह तो मृत्युको भी जीतकर बंदीगृहमें बन्द कर देनेकी बात सोच चुका है। उसका वध होगा? वह मरेगा?' बात तो यही आकाशसे आते उन शब्दोंमें कही गयी और अब तो वे शब्द भी समाप्त हो गये। कंसके हाथसे रथकी रश्मि छूट गयी। उसे लगा—आज ही उसका वध होने जा रहा है। मृत्युकी कल्पना ही उसके लिए भयप्रद थी। वह तो अमर होना चाहता है।

'मेरा वध और इस देवकीकी सन्तानके द्वारा!' एक क्षणमें उसके नेत्रोंसे अङ्गार झड़ने लगे। उसने अधर दाँतोंसे काट लिया। रथसे कूद गया नीचे। सब स्नेह, सब सौहार्द, सब भ्रातृत्व एक क्षणमें ही पता नहीं, क्या हो गया। जहाँ शरीर और शरीरका सुख ही सब कुछ है, वहाँ कैसा प्रेम और कैसा सौहार्द? वहाँ तो अपने सुख, अपने स्वार्थपर जबतक कोई धक्का न लगे, वहाँतक सब ठीक। जहाँ अपने स्वार्थपर धक्का लगनेकी आशङ्का भी हुई, एक क्षण भी नहीं लगता मित्रताको घोरतम शत्रुतामें परिवर्तित होते! वह आकाशवाणी सुनी वसुदेवजीने और देवकीने भी। उन्हें कम क्षोभ या आश्चर्य नहीं हुआ। किन्तु कोई कुछ सोचे, इससे पूर्व तो कंसने झपटकर देवकीके केश बायें हाथसे पकड़ लिये और उसके दाहिने हाथने झटकेसे कोषसे खड्ग खींच लिया।

'अरे, अरे, आप यह क्या करने जा रहे हैं!'—वसुदेवजीने शीघ्रतापूर्वक कंसका हाथ पकड़ा और देवकी तथा कंसके मध्य झुककर खड़े हो गये। कंस क्रोधावेशमें अनर्थ कर सकता था; किन्तु अनर्थ करने-जैसी क्षमता भी उसमें रही नहीं। वह देवकीको खींच लेनेके लिए बल लगा रहा था· और यह निश्चित ही था कि उस दैत्यसे वसुदेवजी देरतक देवकीको बचा नहीं सकते थे।

'आप तनिक रुकिये और सोचिये तो! सभी शूरोंमें आपके गुणोंकी प्रशंसा होती है, भोजवंशके यशको उज्ज्वल किया है आपने। भला आप ही एक स्त्रीका वध करेंगे और वह भी अपनी छोटी बहनका? फिर इस विवाहके मङ्गल अवसरपर? भला आपके द्वारा यह घोर कर्म कैसे हो सकता है?'—वसुदेवजीने समझानेका प्रयत्न किया।

'यह आकाशवाणी! यह तो आप जानते ही हैं कि जन्मके साथ प्राणीकी मृत्यु निश्चित हो जाती है। कोई आज मरे या सौ वर्ष पश्चात् मरे—जिसने जन्म लिया, उसका मरना तो निश्चित ही है।'—लेकिन वसुदेवजीकी बात कंसकी समझमें कैसे आये? वह मरना कहाँ चाहता है?

'सब अपने ही प्रारब्ध कर्मोंका फल भोगते हैं। प्रारब्ध समाप्त होनेपर जीव शरीर छोड़ देता है और दूसरे शरीरको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार शरीर तो बार-बार मिलता रहता है। वह कोई दुर्लभ वस्तु नहीं और प्रारब्ध पूर्ण होनेसे पूर्व उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसे ही शरीरोंमें जन्म लेना पड़ता है। जैसे हम जो सोचते हैं, स्वप्नमें भी वही देखते हैं, वैसे ही मृत्युके पश्चात् भी हमें अपने कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है। इस शरीरके साथ मोह करके व्यर्थ ही लोग भ्रममें पड़ते हैं। उचित तो यह है कि किसीसे भी शत्रुता न की जाय; क्योंकि द्वेषका परिणाम मृत्युके पश्चात् भी भयानक होता है। आप तो बुद्धिमान् हैं। यह आपकी छोटी बहन है, दुर्बल है, अत्यन्त दीन हो रही है। यह आपकी पुत्रीके समान है। आप तो दीनोंका पालन करनेवाले, दुर्बलोंपर दया करनेवाले हैं। आपको इसे नहीं मारना चाहिए। यह कर्म आपके योग्य नहीं है।'

चिकने घड़ेपर जलकी बूँदें तो चाहे पलभर टिकती भी हों, कंसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा इन बातोंका। उसने कुछ सुना भी, कहा नहीं जा सकता। वह तो देवकीके केश पकड़कर खींच लेनेको उद्यत है। वसुदेवजी बीचमें पूरी शक्तिसे उसे रोके हुए भी हैं और देवकी—वधिकके पासमें बँधी गौ! क्या वर्णन करे कोई उसकी दशाका? रथके स्तम्भ दोनों सुकुमार हाथोंमें पकड़कर जैसे रथसे एक हो गयी हैं वे। उनके कण्ठमें भयके आधिक्यसे चीत्कार भी नहीं।

'कंसको समझाया नहीं जा सकता इस समय!' वसुदेवजीने देख लिया। विद्युत् तो बहुत मन्दगति होती है, इस समय उनके मस्तिष्कमें विचारोंका अंधड़ उठा था। 'एक अबला नारी! अभी-अभी उन्होंने अग्निदेवको साक्षी रखकर उसका पाणि-ग्रहण किया है। वे पति हैं—रक्षा करना ही उनका परम धर्म है। यह परम दुर्धर्ष कंस—अपने प्राणोंकी आहुति देकर भी आशा नहीं कि वे देवकीको इस नृशंससे बचा सकें।' एक क्षण—एक क्षण तो एक कल्पसे भी बड़ा दुस्सह प्रतीत हुआ वसुदेवजीको, देवकीको और कदाचित् कंसको भी। वह क्रूर भी शीघ्रता करनेमें प्राणपणसे लगा था। सहसा एक विचार आया वसुदेवजीके मनमें—'इस समय तो इसकी रक्षा ही प्रधान कर्तव्य है। क्या पता, मेरे पुत्र होंगे भी या नहीं? पुत्र हुए भी तो क्या ठिकाना कि आठवें पुत्रके होनेतक कंस जीवित ही रहेगा? इसके विचार भी तो बदल ही सकते हैं, क्रोधका आवेश शान्त होनेपर इसे सद्बुद्धि भी आ सकती है। यह सब न भी हो, तो भी उपस्थित भयको तो दूर ही करना है। भविष्यमें होनेवाले पुत्रोंको भय है; पर इस समय तो इसके प्राण बचते हैं।

सहसा वसुदेवजीने कंसको रोकनेका प्रयत्न शिथिल किया और किसी प्रकार मुखको प्रसन्न बनाया: 'आपको भला, देवकीसे क्या भय है? उस आकाशवाणीने तो इसकी संतानके द्वारा आपकी मृत्यु बतायी थी!'

'मैं भयकी इस जड़को ही समाप्त कर देता हूँ।'—कंसने दाहिना हाथ उठाया।

'लेकिन मैं इसके पुत्रोंको उत्पन्न होते ही आपको दे दूँगा।'—शीघ्रतासे वसुदेवजीने वाक्य पूरा किया।

'आप पुत्रोंको उत्पन्न होते ही दे देंगे?'—कंसका उठा हाथ धीरेसे नीचे आ गया। केशोंको पकड़नेवाली मुट्ठी भी तनिक शिथिल हुई।

'हाँ, आपको भय तो पुत्रोंसे है! मैं उन्हें उत्पन्न होते ही आपके पास स्वयं ले आऊँगा! इसे तो आप छोड़ दें। इससे तो आपको कोई भय नहीं।'—वसुदेवजीने स्वरको स्थिर कर लिया था।

'नहीं, इससे तो कोई भय नहीं है!'—कंसने केश छोड़ दिये। खड्ग कोशमें चला गया। आप अपने वचनका ध्यान रखिये!' और अब उसमें इतनी शिष्टता नहीं थी कि किसीसे क्षमा माँगे या विदा ले। वह मुड़ गया पैदल ही राजसदनकी ओर।

देवकी—उन्हें तो प्राणदान ही मिला था। भयके कारण उन्होंने सुना ही कहाँ कि उनके पूज्य पतिदेवने इस महाक्रूरको कैसे समझाया।

× × ×

माता देवकीको सन्तान होनेवाली है। वृष्णिवंशके लिए इससे शुभ, उत्साहप्रद, मङ्गल समाचार कुछ नहीं हो सकता था। किंतु—किंतु क्रूर कंस, उसका भय—आनन्दोल्लासके स्थानपर विषाद ही बढ़ गया है सर्वत्र।

'महाराज उग्रसेनसे आवेदन किया जाय! यादव समासद-गण इसपर विचार करें!'—अनेकने अपने विचार प्रकट किये। अनेकने वसुदेवजीको मथुरा त्याग देनेकी मन्त्रणा भी दी; किन्तु जब वचन दिया जा चुका, कैसे किसीके प्रति विश्वासघात किया जा सकता है? वसुदेवजीने किसी प्रकारका बचाव स्वीकार नहीं किया।

वह दिन भी आया। एक कंगालके भी पुत्र होता है तो वह अपनी फूटी थाली ही बजा लेता है। यहाँ महाराज उग्रसेन—चक्रवर्ती यादवसम्राट्के दौहित्र हुआ; किन्तु किसीको पतातक न लगा। न वाद्य बजे, न आचार्य बुलाये गये, न बन्दियोंने यशोगान किया। वसुदेवजीने पुत्रोत्पत्तिका संवाद सुना और मस्तकपर दोनों हाथ रख लिये। नेत्रोंमें अश्रु लायें—इतना भी बल हृदयमें नहीं था; वहाँ शोककी ज्वाला थी। किसी प्रकार सम्हल कर उठे और वैसे ही सूतिकागारकी ओर चल पड़े।

'देवि·········!' कण्ठसे शब्द निकल नहीं पाता, वसुदेवजीने दोनों हाथ फैला दिये। सत्य—कितना भीषण, कितना दुःखद सत्य है सम्मुख! उन्होंने कंससे कहा है: 'पुत्रोंको उत्पन्न होते ही पहुँचा दूँगा।'

'मेरा लाल!'—माताने नवजात शिशुको भली प्रकार देखा भी नहीं। अभी उसका नालोच्छेद भी नहीं हुआ और·········

'हमारे भाग्यमें वह नहीं ! समझ लो, हुआ ही नहीं ! अब यहाँ ठहरा नहीं जा सकता । हृदयके साहसकी भी सीमा है । नहीं—एक क्षण भी ठहरनेसे सत्यपर स्थित रहना कठिन हो जायगा ।' धात्री दे पुत्रको, इसकी अपेक्षा किये बिना ही स्वयं उन्होंने उठा लिया और शीघ्रतासे मुड़ पड़े । उन्होंने सुनी एक चीत्कार और भागे—भागे वेगसे । नवप्रसूता मूर्छित हो गयी । मन, प्राण—सब यही कह रहे हैं; पर यदि रुक जायँ—चरण फिर नहीं उठ सकेंगे । सन्तानको हृदयसे तो हाथोंने स्वतः लगा लिया है, पर वे उसकी ओर देखनेमें भी भयभीत हो रहे हैं; कहीं ममत्व विजय पा ले हृदयपर—सत्य ! सत्य ! और वे भागे जा रहे हैं कंसके राजसदनकी ओर ।

× × ×

'युवराज, यह तुम्हारा भानजा ! देवकीका प्रथम पुत्र······!' कंसके सम्मुख उस नवजात बालकको रखकर अब वसुदेवजीने देखा । कुसुम-सुकुमार, कच्चे मांसका लौंदा, सौन्दर्यकी मूर्ति और वह तो हँस रहा है, उन्हींकी ओर देख रहा है । मार्गमें भी उसने रोनेका नाम नहीं लिया ।

'आप सचमुच सुख-दुःखमें एकरस रहनेवाले समदर्शी महात्मा हैं । आपका सत्यानुराग प्रशंसनीय है !'—कंसने देखा एक साधारण दृष्टिसे बालकको और फिर उसी बालककी ओर एक टक देखते प्रेमविभोर वसुदेवजीको । वह हँसा और हँसते-हँसते ही बोला : 'मैं बहुत प्रसन्न हूँ ! आप इस बच्चेको ले जायँ । आपके अष्टम पुत्रसे मेरी मृत्यु होगी, ऐसा आकाशवाणीने कहा था; यह तो प्रथम पुत्र है । इससे मुझे कोई भय नहीं ।' जैसे अब देवकीसे उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है । कोई भय नहीं, अतः यह बच्चा लौट जाय—बस ! इससे अधिकके लिए न तो कंसके हृदयमें स्थान था और न किसी शिष्टाचारकी उसे आवश्यकता जान पड़ी ।

'जैसी आपकी इच्छा !'—वसुदेवजीने धीरेसे पुत्रको उठा लिया और लौटे । मनमें कोई उल्लास, कोई उत्साह नहीं । चरणोंमें कोई वेग नहीं । जैसे कोई बहुत थका व्यक्ति किसी प्रकार मार्ग काट रहा हो, ठीक ऐसे लौट रहे थे वे ।

'मेरे लाल !'—माताने ललककर पुत्रको हृदयसे लगा लिया । आनन्दके आवेशमें वे पतिसे यह पूछना ही भूल गयीं कि बच्चा कैसे लौटा ?

'इतना मोह ठीक नहीं !'—वसुदेवजीने अत्यन्त व्यथित कण्ठसे कहा : 'कंस, उस क्रूरपर मुझे विश्वास नहीं । उसका विचार कितने क्षण स्थिर रहेगा, कौन कह सकता है ? तुम्हें मिल गया, ऐसा समझना भूल ही होगी । जबतक है, देख लो इसे !' सचमुच वे स्वयं एकटक उस शिशुको ही देख रहे थे । उनके नेत्रोंसे अब धाराएँ चल रही थीं । जैसे वे कहते हों : 'इतना आनन्द, इतना सौन्दर्य, इतनी मुग्धता लेकर तुम्हें क्या मुझ भाग्यहीनके गृहमें ही आना था !'

× × ×

'वसुदेव कितने सच्चे, कितने धीर, कितने सीधे हैं। उस शिशुमें कितना स्नेह था उनका !'—कंस कुछ ऐसा ही सोचता रहा। वह वसुदेवजीको चुप-चाप जाते देखता रहा था और वैसे ही बैठा रह गया।

'जय नारायण ! जय मधुसूदन चक्र-गदा-करधारी !' दूर-दूरसे वीणाकी झंकारके साथ स्वर आया और कंस तो चौंक ही गया : 'नारायण, मधुसूदन, चक्र-गदाधारी ! कहाँ ? कहाँ ?' उसे लगा, कहीं उसे मारने वे नारायण चक्र-गदा लेकर तो पहुँच नहीं गये।

'ओह, ये तो नारदजी है !'—ऊपर दृष्टि गयी और अपनी व्याकुलतापर स्वयं उसीको हँसी आ गयी। उसने झटसे आसन ठीक कर दिया : 'पधारें देवर्षि !'

'क्या सोच रहे थे युवराज ?' देवर्षि तो कहीं स्थिर रहते नहीं, अतः कुशल-मङ्गलमें व्यतीत करनेके लिए उनके पास समय भी नहीं होता। वे सीधे मुख्य बातसे प्रारम्भ करनेके अभ्यासी हो गये हैं।

'मैने अभी-अभी वसुदेवजीके प्रथम पुत्रको लौटा दिया, पर वे उसे ले जाते समय कुछ विशेष प्रसन्न नहीं दीखे। ऐसा क्यों हुआ, यही सोच रहा था।' राजनीति सर्वत्र शङ्कालु होती है और उसमें भी जो शरीरासक्त हैं, उन्हें दूसरोंसे मिथ्या शङ्का ही चैन नहीं लेने देती। कंसको वसुदेवजीके निरुत्साह लौटनेमें भी कोई गूढ़ रहस्य जान पड़ा। वह उसी समस्यामें उलझा था।

'तुमने वसुदेवके पुत्रको लौटा दिया ?'—देवर्षिने इस प्रकार पूछा, जैसे उन्हें विश्वास ही न हुआ हो।

'क्यों, यह तो प्रथम पुत्र था। मेरी मृत्यु तो उनके अष्टम पुत्रसे बतायी गयी है ?'—कंसने जिज्ञासा की।

'बतायी तो अष्टमसे ही गयी है; पर तुम्हें पता भी है कि ये वसुदेव-देवकी कौन हैं ?'—नारदजीने भूमिका बना दी।

'कौन हैं ये ?'—कंसका कुतूहल बढ़ गया।

'ये तथा अन्य सब वृष्णिवंशी देवता हैं—देवताओंके अंशसे उत्पन्न हैं। यही नहीं, गोकुलमें जो वृष्णि-वंशी नन्दादि गोप हैं, वे भी सब देवता ही हैं। इन सबकी स्त्रियाँ देवाङ्गनाएँ हैं।'—देवर्षिने परिचय दिया।

'स्वर्गके देवता भी मुझसे पराजित हो गये हैं; ये तो देवताओंके अंश ही हैं। फिर कोई हों, अपने ही वंशके तो हैं।'—कंसकी समझमें बात आयी नहीं अबतक।

'तुम अपनेको ही यदि जानते··· ! असुरश्रेष्ठ कालनेमि, तुम अपनेको ही भूल गये। तुम्हारे ये मित्र, सेना-नायक, साथी नरेश सब असुर हैं। देवासुर-संग्राममें देवताओंने सबका वध किया और जब तुम लोग इस रूपमें पृथ्वीपर मानव-योनिमें आये, ये तुम्हारे पुराने शत्रु तुम्हारा नाश करने यहाँ भी पहुँच गये। चक्रसे तुम्हारा वध करनेवाले विष्णु ही देवकीसे

उत्पन्न होनेवाले हैं। रही अष्टम गर्भकी बात, सो तुम तो जानते ही हो कि विष्णु परम मायावी हैं। तुम इतना भी नहीं समझते कि प्रत्येक गर्भ अष्टम हो सकता है।'—देवर्षिने जो कुछ कहा, कंसको लगा कि सब ठीक ही तो है। उसका सदासे देवताओंसे सहज द्वेष, पूजा-पाठादिसे घृणा थी। अवश्य ही वह असुर है। ये वृष्णिवंशी, ये सदा उसका विरोध करते हैं, ये जन्मजात शत्रु हैं उसके।

'प्रत्येक गर्भ अष्टम गर्भ ?'—यही बात उसकी समझमें नहीं आयी। यह कैसे हो सकता है ?

'बताओ तो, इसमें अष्टम रेखा कौन-सी है ?'—देवर्षिने तनिक झुककर भूमिपर गोलाईमें अँगुलीसे कल्पित आठ रेखाएँ खींच दीं। रेखाएँ उस कुट्टिम भूमिपर बनी नहीं; किन्तु कंसको उनका तात्पर्य समझनेमें इससे कोई बाधा नहीं हुई। वह एक क्षण उस रेखाहीन स्थानको ही इस प्रकार देखता रह गया, जैसे वहाँ कोई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृश्य हो।

'ओह !'—उसने अपने ओष्ठ दाँतोंसे दबाये, कोषसे खड्ग खींचा और देवर्षि तो आसनसे उठकर आकाशमें दृष्टि-पथसे भी पार हो चुके।

× × ×

युवराज !—हाथमें नंगी करवाल लिये, क्रोधावेशमें अत्यन्त उग्र बना, अस्तव्यस्त कंस पैदल राजपथसे दौड़ा जा रहा था। उसे सेवकोंको पुकारने का भी ध्यान नहीं रह गया था। कुछ सेवक उसके साथ दौड़े। मार्गमें उसका यह उग्र वेश जिसने देखा, चकित और भयभीत हो गया वह।

वसुदेवजीने भी देखा कंसको आते। अभी नान्दीमुख श्राद्ध भी नहीं हुआ था। बालकका नालच्छेदन भी नहीं हुआ, लेकिन इसकी उन्हें पहलेसे सम्भावना थी। अभी हुए कितने पल उन्हें पुत्रको सूतिका-गृहमें देकर बाहर आये। कंसने कठोर दृष्टिसे उनकी ओर देखा और वसुदेवजीने चुपचाप सूतिका-गृहकी ओर संकेत कर दिया और वहीं मस्तक झुकाये खड़े रह गये।

एक चीत्कार आयी सूतिका-गृहसे और कंस शिशुका एक पैर पकड़े, उसे लटकाये निकल आया। वसुदेवजीने नेत्र नहीं उठाये, पर उनके मानस-नेत्रोंने देख लिया—समझ लिया कि उनकी सद्यःप्रसूता पत्नी दौड़ी हैं—'मैया !' कहकर इस पिशाचका पैर पकड़नेके लिए और 'धम्' करके वे सम्भवतः सूतिका-गृहके द्वार-देशपर ही गिर गयीं मूर्छिता होकर। पृथ्वी जैसे घूम रही हो ! नेत्रोंके सम्मुख अन्धकार, ज्वाला, पिशाच ! वसुदेवजी संज्ञाहीनसे वहीं बैठ गये।

कंस—उसने कहीं, किसी ओर नहीं देखा। भवनसे बाहर एक शिलापर हाथके शिशुको घुमाकर पटक दिया उस प्रेताधमने ! एक हल्की ध्वनि और शिला रक्तसे अरुण हो गयी। कंस हत्याके रक्तके छींटोंसे रँग गया।

'पकड़ लो इन दोनोंको ! सावधानीसे सुदृढ़ शृङ्खलाओंमें बाँधकर कारागार पहुँचा दो।'––शिशु-हत्याके पश्चात् कंस जैसे अपने साथ आये सेवकोंको देख सका। उसने तुरन्त आज्ञा दे दी देवकी एवं वसुदेवको बन्दी करनेके लिए।

× × ×

'वसुदेवजीके पुत्रकी हत्या की गयी। कंसने स्वयं हत्या की। वसुदेवजी अपनी सद्यः-प्रसूता पत्नीके साथ कारागारमें डाल दिये गये !'––नगरमें बात फैलते कितनी देर लगती थी। भय, आतङ्क, उत्तेजना––सभी कुछ एक साथ व्याप्त हो गया।

'वृष्णिवंशी प्रधान सामन्तोंको पकड़ लो। शूरसेनके सभी पुत्रों एवं परिवारको बन्दी-गृह पहुँचा दो।' कंस असावधान नहीं था। उसने सेनाके प्रधान असुर-नायकोंको अविलम्ब आदेश दिया। सेना उसके हाथमें, उसके पक्षके सैनिकोंसे पूर्ण थी।

'कंस, मेरा पुत्र सही; परन्तु ऐसे पुत्रसे तो पुत्र-हीन रहना अच्छा है। वह बन्दी किया जायगा। राजसभा उसके अपराधपर विचार करेगी। दण्ड दिया जायगा उसे।'––कुछ लोगोंने महाराज उग्रसेनको समाचार दिया। महाराजने आश्वासन दिया और साथ ही पार्श्वरक्षकको आज्ञा दी : 'कंस बन्दी करके उनके सम्मुख उपस्थित किया जाय।'

कंस : 'वृद्ध ! यह अब इस योग्य नहीं कि राज्य-संचालन कर सके। यह शत्रु-पक्षसे मिल गया। बन्दी करो इसे।'––कंसने महाराजकी आज्ञा सुनी और जल उठा। अपने असुर-नायकोंके साथ वह सीधे राजसदन पहुँचा। महाराज कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि उनका पुत्र उनके सम्मुख आकर भी इतना उद्धत हो सकता है। महाराजके विश्वस्त सेवक आहत हो गये, उनके पार्श्वरक्षक बन्दी बन गये।

'तू मेरा वध कर !'––महाराजने उसी तेजस्वितासे धिक्कारा पुत्रको, जिससे सिंहासनासीन होनेपर वे उसे धिक्कार सकते थे। 'तू मेरा त्याज्य पुत्र है। मैं तेरा मुख देखना नहीं चाहता। तुझे जो मनमें आये, कर !' उन्होंने मुख फेर लिया।

कहीं स्वार्थान्ध, पशुप्राय मदाविष्ट भी इस प्रकार लज्जित किये जा सकते हैं ? राज्यके लोभी नारकीय मानव माता-पिता आदिकी कहाँ चिन्ता करते हैं ? कंसने अट्टहास किया––ऐसा अट्टहास जो असुरके ही उपयुक्त था। उसके आदेशसे महाराज बन्दी बना लिये गये।

मथुराधिपति कारागारमें बन्दी हो गये। कंस स्वयं मथुराके सिंहासनपर बैठा। अब वह निरङ्कुश हो गया। वसुदेवजीके सभी भाई बन्दी हो गये। वृष्णिवंशियोंमें कुछ बन्दी हुए, कुछने कंसको आश्वासन दिया उसके अनुकूल रहनेका। बहुत-से लोग वन एवं गिरि-गुहाओंमें और बहुत-से कुरु, पाञ्चाल, मत्स्य, कोसल, विदर्भादि दूसरे राज्योंमें अपने प्राण एवं परिवारको लेकर भाग गये। मथुरा कंस और उसके असुर-नायकोंका क्रीड़ाक्षेत्र हो गयी।

× × ×

कंसका वह कारागार—एक ही कक्षमें लौहशृङ्खलाबद्ध वे जगज्ज्योति दम्पती ! उनके कष्ट, दुःख, मर्मपीड़ाका वर्णन न करना ही अच्छा है। एक वर्ष—ठीक एक वर्ष पश्चात् कारागारमें ही उस वन्दिनीकी गोदमें एक शिशु और आया—सुषेण। कारागारके रक्षकोंने अपने महाराजको दौड़कर सूचना दी। भूमिष्ठ शिशुका रोदन सुनते ही वे दौड़ गये।

'नारायण, विष्णु—आया तो नहीं वह ? वही कंसका भयातुर भाव, वही उसका दौड़ना, वही प्रवेश कारागारमें और वही शिशुका पैर पकड़कर निकलना। शिला-आघात—रक्त और··· । चलता रहा यही पैशाचिक कर्म प्रतिवर्ष। भद्रसेन, ऋजु, सम्मर्दन और भद्र, ये नाम ! ये नाम ही मात्र हैं। वे अबोध बच्चे, भूमिपर आये और न आये। उनका रक्त, शिलापर सूखकर काला भले हो जाय, अखिलेशके अङ्कमें वह घना-घना—गाढ़नील ही होता गया। कौन जाने, उसीने उसे वह नीलोज्ज्वल वर्ण दिया हो, जो कंसकी क्रूरताके परिपाकको प्रतीक्षा कर रहा था भूभार-हरणार्थ भूमिपर आनेके लिए।

दुष्टोंका संग सर्वथा त्याज्य !

दुष्ट मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ वार्तालाप करनेसे तथा एक आसनपर बैठनेसे धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य किसी भी कार्यमें सफल नहीं हो पाते। दुष्ट संग सर्वथा त्याज्य है। नरकका कष्ट भोग लेना अच्छा, किन्तु दुष्टके साथ एक क्षण भी व्यतीत करना अच्छा नहीं है। जैसे साँपको दूध पिलाना उसके विषको ही बढ़ाना है, उसी प्रकार दुष्टको प्रश्रय देना अपनेको विनाशके पथपर ले जाना है।

मुक्ति क्या है ?

तीन गुणोंसे ऊपर उठो

श्री गोविन्द शास्त्री

★

समस्त भारतीय दर्शन मुक्तिको समर्पित हैं। साधनाके सारे समारंभ निर्वाणपर जाकर निःशेष होते हैं, पर मुक्तिका अधिष्ठाता स्वयं मुक्त नहीं है। हर युगमें उसकी निद्रा टूटती है और वह लीला-विग्रह धारण करके आता है। भारतीय दर्शन कहता है : ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, इन्द्रियातीत है। उसीका अंश-भूत जीव भी प्राणियोंमें साक्षीके रूपमें विद्यमान है। व्यक्तिके कर्मबन्धनमें वह नहीं बँधता, न शरीरकी यात्रासे वह थकता ही है। उस परब्रह्मका संसारसे कोई संबन्ध नहीं, इस जीवको शरीरसे मोह नहीं। फिर भी यात्रा अक्षुण्ण है, जीवात्माका भ्रमण अव्याहत गतिसे चालू है। कई बार शंका उठती है कि इस जीवनसे, संसारसे और बन्धनसे जब उसको कोई सरोकार ही नहीं तो वह इस चक्रको क्या अपने विनोदके लिए ही चलाये जा रहा है? जागतिक द्वन्द्व जब उसे नहीं व्यापते तो क्या वह निरपेक्ष रहकर केवल गतिधर्मा बना रहना चाहता है? प्रश्न जटिल हो सकता है, जटिल इसलिए कि इसका उत्तर सामान्य स्थितिमें समझा नहीं जा सकता; पर उत्तर सरल है, सरल इस अर्थमें कि इस उत्तरको बुद्धिसे न समझकर व्यवहारमें अनुभव किया जाय। भगवान् निरपेक्ष होकर भी माताके ममत्वसे निगडित हैं, व्यक्तिको उसके कर्मोंसे जोड़कर भी उसके कष्टोंसे पसीजते हैं। इस रहस्यको उन्होंने गीतामें समझाया है। उन्होंने जब यह कहा कि 'अर्जुन ! मैं ही होता हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ और मैं ही हविष्य हूँ' तो यह बात अर्जुनकी समझमें नहीं आयी। पर इसमें दुरूह भी कुछ नहीं था; क्योंकि इसको अनुभवनीय स्थितिमें जाना जा सकता है। उदाहरणके लिए इस संसारका कोई भी पदार्थ जो इन पाँच तत्त्वोंके संयोगसे निर्मित होता है, अन्तमें इन्हींमें समा जाता है। व्यक्ति जो इनको उपयोगमें लाता है, वह भी इन्हीं तत्त्वोंमें समा जाता है। अतः स्थूल-बुद्धि और दृश्य जगत्‌में जो घट रहा है, उससे भिन्न बात कृष्णने नहीं कही। इसी तथ्यको परमार्थतः समझ लेना उन प्रश्नोंका समाधान है।

मुक्तिका अस्तित्व बुद्धि-विलासके आधारपर स्थिर नहीं हुआ है, प्रत्युत यथार्थ स्थितिके कारण और विवेककी आधार-भित्तिपर है। मुक्ति है, क्योंकि बन्धन है। बन्धन कर्मका ही नहीं, प्रकृतिका भी है। प्रकृति स्वयंमें एक शाश्वत प्रवाह है, जिसका स्वयंका धर्म है, गति

है। प्रकृति वन्धन इसलिए भी है कि वह माया है। माया स्वतन्त्र, निरपेक्ष और निस्संग नहीं होती। संसारका यह विस्तार स्वतन्त्र नहीं है। यह मिथुनसे है, अनेकसे है, इसलिए संसार बन्धन है। जिन तत्त्वोंके आनुपातिक संयोगसे यह जगत् अभिव्यक्त होता है, उन तत्त्वोंमें भी परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध है। अद्वितीय ब्रह्मकी संकल्पात्मक स्थिति अभिव्यक्तिकी परम्पराका क्रम प्रारंभ कर देती है और यह परम्परा अपने आपमें बन्धन बन जाती है। वह अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंका स्रष्टा-संहर्ता मुक्त इसलिए है कि इस सृष्टिका 'मम' उसकी इच्छा है और इच्छाका प्रभु कभी इच्छाका वशंवद नहीं होता।

स्थूल-जगत् पंचमहाभूतोंकी लीला है। इन महाभूतोंको 'तत्त्व' कहा जाता है। तत्त्वका अर्थ होता है : उस ब्रह्मका भाव। भिन्न अनुपातके कारण इस संसारमें विभिन्न प्रकारके प्राणी जन्मते हैं। मछलीमें और सर्पमें इन तत्त्वोंका भिन्न अनुपात ही है, अन्यथा चेतना और क्रियाकी दृष्टिसे इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं होता। पंचतत्त्व इस संसारका वास्तविक स्वरूप है। व्यक्तिके रूपमें जीवात्मा साक्षीभूत होकर गतिशील है। इस संसारकी जितनी भी दृश्य वस्तुएँ हैं, उनमें तैजस तत्त्व है और हमारी आँखें उसी तैजसकी अनुभविनी हैं; अतः वही तत्त्व हमारी आँखोंके माध्यमसे अपने आपको देखता है। इस स्थितिमें गीताका वह कृष्णवचन स्पष्ट हो जाता है। बाह्य दृष्टिसे इन तत्त्वोंका संघटन-विघटन एक प्रकृति बन गया है, किन्तु इस स्थूल-संसारके पीछे एक सत्ता और है। पंचमहाभूतोंके इस विलासके पीछे एक संसार और है, जिसे गुणात्मक कहा जा सकता है। तत्त्वोंका पंचक सूक्ष्म स्वरूपमें आते-आते त्रिकमें सीमित हो जाता है। चेतनाको जीवका स्वरूप माना जाता है और गुणोंको अदृश्य जगत्का चक्र। स्वर्ग और नरक सत्त्व और तमोगुणकी सीमाएँ हैं। किन्तु पृथिवी और पुरुष ये कर्मलोक हैं, इसलिए इनमें तीनों ही गुण स्वीकरणीय हैं, व्यवहरणीय हैं।

जिस मुक्तिको सुकृतोंका उत्कृष्ट प्राप्य माना जाता है उसका राजमार्ग इन गुणोंके आधार पर बनता है। गुण वर्गीकरण हैं। यद्यपि वाचामगोचर मुक्ति इस गुणात्मक स्थितिका अतिक्रमण करनेपर ही मिल पाती है, पर अतिक्रमणके लिए सीमाका अस्तित्व मानना ही पड़ता है। मुक्तिके लिए बन्धनका अनुभव आवश्यक है। तत्त्वोंकी प्रतीति इन्द्रियोंके माध्यमसे होती है, पर गुण मनके विषय हैं। सांसारिक विषयोंके प्रति अभिरुचि उत्पन्न करनेवाला क्रम गुण है इन्द्रियाँ और मन यद्यपि संसारसे और विषयों जुड़नेमें प्रत्यक्ष रूपसे उत्तरदायी हैं, पर इनके मूलमें गुणोंकी प्रखरता और मन्दता एक प्रबल आधार हैं, प्रमुख कारण है।

बचपनमें बालककी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विषयोंके प्रति आसक्त नहीं होतीं। माना जा सकता है कि उसकी बुद्धिका विकास नहीं होता, फिर भी उसमें निर्दोषिता प्रसन्नता, राग-द्वेष-हीनता आदि ऐसी विशेषताएँ हैं जो बुद्धिसे सम्बद्ध होती हुई भी स्वतन्त्र रूपसे प्रकट होती हैं। गुणोंकी दृष्टिसे बाल्यावस्थाको सत्त्वप्रधान अवस्था माना जा सकता है। सत्त्व-गुणकी उज्ज्वलता, निरहङ्कारिता और शुद्धता प्रत्येक बालकमें स्पष्टरूपसे दीखती है।

यह निश्चित है कि गुणोंके क्रममें सत्त्व ही वह सोपान है जो गन्तव्य राज-प्रासादके मुख्य प्रासादपर जाकर समाप्त होता है। कोई भी व्यक्ति तमोगुण या रजोगुणसे गुणातीत स्थितिको प्राप्त नहीं कर सकता। गुणातिशायिनी मुक्तिके निकटका पड़ाव मात्र सत्त्वगुण ही है।

यौवनमें व्यक्ति रजोगुणप्रधान होता है। युवावस्थाका प्रारम्भिक अनुभव रागान्धका-सा होता है, जिसे कुछ ज्ञान ही नहीं होता। जवानीमें अनुभव की जानेवाली चञ्चलता शरीरका धर्म हो सकती है, पर मनपर उसका प्रभाव रजोगुणकी बहुलताके कारण पड़ता है। स्त्रियाँ चूँकि प्रकृतिकी प्रतीक हैं, इसलिए उनमें गुणोंका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। यौवन आते ही स्त्रियाँ रजस्वला होने लगती हैं। रजोगुणमें सृजनकी शक्ति होती है और इसीलिए यौवनसे व्यक्तिको सर्जकका गौरव मिल जाता है। इस अवस्थामें सत्त्वगुणका लोप हो जाता हैं, ऐसी बात नहीं; किन्तु उसमें क्षीणता आ जाती है। रजोगुणका आवेग सत्त्वगुण-को मन्द कर देता है।

फिर आती है जरा! जरा जर्जर कर देती है। व्यक्ति सांसारिक व्यामोहोंमें इतना उलझ जाता है कि उसे न प्रसन्नताका अनुभव होती हैं, न वह सृजनके योग्य ही रह पाता है। उसकी तमसाच्छन्न बुद्धि उसे सदा विषण्ण बनाये रखती है। जराकी समाप्ति मरणमें ही होती है; क्योंकि महाकाल भी संहारक तभी बनते हैं जब वे तमोगुणी प्रकृतिमें आते हैं। वृद्धा-वस्थाकी शिथिलता, आलस्य, निराशावादिता ये अवस्थाके कारण हो सकते हैं पर इनका प्रमुख कारण इन गुणोंका क्रम भी है ही।

भारतीय चिन्तनमें शङ्करके महारुद्र-स्वरूपकी अथवा दैत्यकुल-विनाशिनी-महाकालीकी उपासना तमोगुणकी साधना है। जहाँ सत्त्वमें सारे कालुष्य हतप्रभ हो जाते हैं और चूड़ान्त उज्ज्वलता व्याप्त हो जाती है, वहीं तमोगुणमें ये सब जलकर भस्म हो जाते हैं। ब्रह्माका सर्जक, विष्णुका रक्षक और महाकालका संहारक रूप सत्त्व, रज और तमोगुणके सचित्र प्रतीक हैं। मायाका प्रभाव इन गुणोंकी क्रिया-प्रतिक्रियाके रूपमें अनुभव होता है। गुणोंकी प्रतीतिकी सीमातक मायाका अस्तित्व हैं और मायाकी सत्तातक आदमी अपने विराट्से विमुख है। सत्त्वगुण, तमोगुण और रजोगुण पदार्थकी अथवा संसारकी बाह्य आकृति नहीं हैं। ये उसकी आन्तरिक, अतएव अलक्षित और अनुभवगम्य स्थितियाँ हैं। यह तथ्य कोई अत्यन्त निगूढ़ नहीं है। सुस्पष्ट हैं कि इस स्थूल-जगत्में परिवर्तन होता है, सूक्ष्म-जगत्के कारण स्थूल जड़ है और जड़ अपने क्रमसे क्षरित एवं उद्भूत होता रहता है। जड़से अधिक समर्थ चेतन है, चैतन्यके कारण ही यह संसार स्पन्दित है।

विज्ञानवादने जिस अणुकी उपस्थितिको देखा, प्रयोग किया है उसे भारतीय गुणोंकी स्थिति, गुण और परिणतिसे भिन्न नहीं कहा जा सकता। सारे संसारकी मूल-रचना इन अणुओंके मिश्रण और अनुपातका कारण है। इन अणु और गुणोंके सूत्रमें जड़ और चेतनका ही अन्तर है। अन्यथा अणु और गुणोंकी सीमातक प्रकृति और मायाकी परिसीमा है। इनके कारण संसारका अस्तित्व है। अणु जड़ है और गुण सचेतनपर आश्रित है, इसलिए सप्राण है। न्यूट्रानकी स्थिति सत्त्वगुणसे भिन्न नहीं हैं तो प्रोटीन-इलेक्ट्रोनकी तमोगुण और रजो-

गुणसे भिन्न नहीं है। स्थूल-जगत्की रचनाका मूल आधार अणु है और बुद्धिगम्य सूक्ष्म संसार का अस्तित्व गुणोंपर आश्रित है।

सत्त्वगुण गुणोंकी श्रेणीमें रहकर भी विवेकोन्मुख है। उसका उदय होनेपर परम शान्ति, प्रसन्नता, पूर्ण तृप्ति और भगवान्के आनन्दमय स्वरूपकी प्रतीति होती है। रजोगुण और तमोगुण मायाकी आवरण और विक्षेपशक्तिके प्रतीक हैं। आवरण शक्तिसे भ्रान्त पदार्थोंमें सत्‌को प्रतीति होती है और विक्षेप-शक्ति भौतिक द्वन्द्वोंका अनुभव कराती है। सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि इसी विशेष-शक्तिके चमत्कार हैं। कहनेके लिए कोई भी कह देता है या कह सकता है कि उसे संसारसे कोई मोह नहीं, पर इस मोह-महीरुहके मूलको उसने देखा नहीं। गहरे, बहुत गहरेतक इसकी जड़ें चली गयी हैं। मायाके प्रभावको वचनसे अस्वीकार करना सरल है, उसकी सामर्थ्यको जानकर ऐसा कर पाना नितान्त दुष्कर है। जिन तपोनिष्ठोंने जीवनको होमकर निस्संगस्थितिको प्राप्त करना चाहा था, उनका भी स्खलन हुआ है और उन्होंने भी मायाके प्रबल प्रभावको भोगा है।

मोक्ष गुणोंकी सीमासे आगेकी स्थिति है। इसका आशय यह नहीं कि गुणोंके साथ मोक्षका कोई सम्बन्ध नहीं। देवालय और मार्ग, लक्ष्य और साधन ये दो भिन्न, नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं। देवालयपर जानेके बाद मार्गका और लक्ष्य प्राप्त करनेपर साधनका अस्तित्व लुप्त हो जाता है; फिर भी भक्त और साधकको मन्दिर और लक्ष्यतक पहुँचानेवाले मार्ग और साधन ही रहे हैं। इसी तथ्यको वास्तविक रूपमें ऐसे भी कहा जा सकता है कि पथ ही देवालयके रूपमें और साधन ही लक्ष्यके रूपमें परिणत हो जाता है। क्रिया मायाका गुण है और क्रिया बन्धनका कारण-परिणाम है, पर क्रियाके बिना मुक्तिकी कल्पना नहीं। मायाके आधारपर ही ब्रह्मका अस्तित्व टिक रहा है।

तात्त्विक स्थितिमें राग-द्वेष कोई भिन्न अनुभव नहीं हैं। मछली प्रवाहकी दिशामें तैर रही हो अथवा विपरीत दिशामें, वह रहेगी जलके भीतर ही और जबतक पानीका अस्तित्व है, मायाका प्रवाह है, तबतक मुक्तिको अवकाश नहीं। दर्पण देखते समय प्रायः व्यक्ति दर्पणको देखता है अथवा प्रतिबिम्बको। किन्तु एक स्थिति वह भी आ जाती है जब वह न प्रतिबिम्बको देखता है, न दर्पणको। इसीके समानान्तर स्थिति मोक्षकी है, जब व्यक्ति संसारमें रहकर या एकान्तमें रहकर भौतिकतासे जोड़नेवाले सूत्रोंको छिन्न करके मुक्त हो जाता है। भक्तियोगमें इसका सरल-सुगम उपाय है : **तत्कुरुष्व मदर्पणम्** और दार्शनिक दृष्टिमें : **निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।**

धर्मकी महत्ता

धर्मके द्वारा ऋषिगण इस भवसागरसे पार हो गये। सम्पूर्ण लोक धर्मके आधारपर ही टिके हुए हैं। धर्मसे ही देवता बढ़े हैं और धन भी धर्मके ही आश्रित हैं।

आन्तरिक समस्याका समाधान

अहंत्व : एक विवेचन

श्री राकेश तैलंग

★

…ऐसा प्रतीत होता हैं कि जब भी मेरा मन उद्वेलित हो उठता है तो उसे समझाने के लिए लेखनीका सहारा लेता हूँ। जीवनके इन बोझिल पलोंमें कभी भावुक हो उठता हूँ तो कभी अपनी भावुकताको अवगुण्ठनोंमें लेनेके लिए उद्दण्ड बन जाया करता हूँ। अवश्य ही यह उद्दण्डता मेरे व्यक्तित्वके लिए हानिकारक सिद्ध होती है। इस उच्छृङ्खलताका कारण सम्भवतः मेरे व्यक्तित्वकी वह दुर्बलता है, जिसके रहते मैं अपने अव्यक्त विचारोंको शब्द-ध्वनिमें परिवर्तित नहीं कर पाता। जीवनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है और उस दृष्टिकोणकी सम्पूर्ति मूक बनकर करना चाहता हूँ। किन्तु यह मूकता ही तो वह अभाव है, जिसके कारण प्रियजन मेरे व्यक्तित्वमें स्वयंकी तुलनामें कमी समझकर मुझे उपेक्षित समझनेकी भूल कर बैठते हैं। यह अलगाव वा उपेक्षा ही उद्दण्डताका मूल है। इस व्यक्तित्वने सम्भवतः मुझमें विकासकी गतिको अवरुद्ध कर दिया है। इस अनुभवकी स्मृतिमात्रसे ही मन उद्वेलित हो उठता है।

समाधानका मार्ग खोजना भी तो आवश्यक है। अन्यथा ऐसी स्थितिमें मानसिक असन्तुलनका भय अवश्यम्भावी है। उद्दण्डताने तो अन्य दृष्टियोंमें मेरे प्रति निषेधात्मक भावनाको जन्म दिया है। फलतः वह मार्ग अपेक्षित नहीं समझता हूँ। फिर ऐसा कौन-सा अंश मेरे व्यक्तित्वमें जन्म ले कि मैं स्वयंको उत्थित कर सकूँ? अपरिहार्यतः जीवनकी इस उदासीनताको दूरकर विकासपथपर अग्रसर होने-हेतु यही विकल्प उचित प्रतीत होता है कि अन्तर्मुख होकर जीवनकी समस्त कटुताओंको अपनेमें समेट लूँ। हृदयकी हीन भावनाओं-को उत्तरोत्तर पतंगकी डोरकी भाँति ढीली छोड़कर विचाराकाशमें उड़ने दूँ, जिससे वे अधिकाधिक परिष्कृत रूप प्राप्त कर सकें। अपनी कमजोरियोंका अन्तर्मूल्यांकन कर मैं सम्भवतः अपने चरित्रको कुन्दन सा स्वच्छ बना सकता हूँ। विरक्तिका मात्र हृत्तलमें धारणकर मैं इस योग्य होनेका प्रयास करूँ कि परदोषान्वेषियोंपर एक स्मितमात्र द्वारा उन्हें विजित कर पाऊँ। लेकिन यह भी तो एक अभावग्रस्त व्यक्तित्व ही है। विरक्ति और निर्बलता तो निर्बलोंके उपकरण हैं। यह निर्बलताका एहसास पुनः मुझमें द्वन्द्व और क्रान्तिमय भावनाओंको जन्म देकर

मेरे अहंको प्रज्वलित करता है। इस अवस्थामें मैं दो विरोधी विचारणाओंके मध्य मार्गकी तलाशमें भटक जाता हूँ। जीवनके ये विरोधाभास ही मेरी मानसिक अस्त-व्यस्तताका कारण बन जाते हैं। यह स्थिति मेरे व्यक्तित्वके पराभवको जन्म देती है। यह पराजय ही मेरे दुःखका कारण है। इस पराजयमें भी विजय-चिह्न आभासित हो सकते हैं, यदि एक मध्यम मार्गकी प्राप्ति हो सके। ऐसे मध्यम मार्गकी प्राप्तिकी वाञ्छामें मैं विवर्तोंमें भटक रहा हूँ। सम्भव है, जीवन कोई थाह पा जाय। ये भटकते व्यक्तित्व, जीवनके सुनहरे रंगोंकी खोजके आकांक्षी ये आधे अधूरे चेहरे भंवरमें फँसे अपने अस्तित्वकी रक्षा-हेतु हाथ-पाँव फटकार रहे हैं। ये जीवनके अभावोंकी पूर्तिके लिए आकुल-व्याकुल डोलते प्राण हैं जो अस्तित्वके समरमें अपनी रक्षा-हेतु कटिबद्ध तो हैं, किन्तु दूसरे संसारी जीवोंके मुकाबले ठहर नहीं पाते। इनकी इस भावुकता, उदासीनता अथवा जो भी संज्ञा दें, उससे युक्त व्यक्तित्व भी एक दम्भ है, जो इस माया संसारसे टक्कर लेनेको आतुर है। किन्तु यह व्यर्थका प्रयत्न है, गड़ा हुआ खम्भा ढकेलनेका बाल-प्रयत्न। ये उड़े-उड़े-से बिना आधारोंपर खड़े विरक्तिसे युक्त आसक्त विचार स्वयंके प्रति एक खौफ उत्पन्न करते हैं। इस क्षोभको मैं किसपर प्रकट करूँ—समस्या है, स्वयंपर अथवा मेरे व्यक्तित्वके निर्मापक तत्त्व सामाजिक बन्धनोंके मूर्तस्वरूप स्वजनोंपर? इस ऊहापोह और विचारोंके आरोह-अवरोहोंमें ही मैं अन्तर्मुख हो उठता हूँ और सुलझे द्वन्द्वोंको लिपिबद्ध करनेकी भूल कर बैठता हूँ—कोई पढ़े, सुने या न सुने।

छिद्रान्वेषियोंकी भाँति लोग मेरे व्यक्तित्वको निम्नताका स्तर प्रदानकर मुझमें पुनः द्वन्द्व उत्पन्न कर देते हैं। कोई मुझे सभ्यताकी सीख दे, मेरे व्यक्तित्वके स्तरके अनुकूल नहीं। मेरा अन्तस् भी किसी व्यक्तिसे युक्त है। मैं भी तो विज्ञ हूं। यह विज्ञता कोई अहङ्कार नहीं है। जब मानसमें कोई विचार-मन्थन होकर परिणामतः किसी सिद्धान्तरूपमें गृहीत हो तो निश्चय ही वह विशुद्ध सत्यका रूप धारण कर लेता है। आज ऐसा ही विचार कर रहा हूँ कि मैं अहङ्कारी नहीं, सत्यके बलसे युक्त हूँ; किन्तु जिसे मैं अपनी कमजोरियोंकी वजहसे स्पष्ट नहीं कर पाता। ये अभाव क्या हैं—अव्यक्त हैं। इस अभिव्यक्ति-हेतु कभी मध्यस्थकी तलाश करता हूँ। किन्तु मध्यस्थता मुझे दूसरों द्वारा उपेक्षा ही प्रदान करेगी। मैं परावलम्बी हूँ, स्वयंद्वारा किसी व्यक्तिपर अपने समस्त अन्तर एवं बाह्य बोझोंको थोप देना मैं अपनी तौहीन समझता हूं। क्या कर्तव्य है, स्वयं नहीं विचार सकता। ऐसे अवरोधोंमें मैं अन्यमनस्क-सा हो शून्यमें ताकता रह जाता हूँ।

निराशावादके इन बवण्डरोंमें व्यक्ति अपनी सूझ-बूझ खो बैठता है। जब चारों ओर अन्धकार है, तो व्यक्तिको क्या अभीष्ट है? क्या वह टूट जाय अथवा दूसरोंको तोड़ दे? दोनों ही स्थितियाँ भयङ्कर हैं। टूटना मैंने सीखा नहीं, किन्तु परिस्थिति और चरित्रबलके अभावने मुझे अकारण ही स्वजनोंके समक्ष घुटने टेकनेको बाध्य कर दिया है। जहाँतक प्रश्न दूसरोंको तोड़नेका है, मुझमें वह बल नहीं; क्योंकि स्वभावतः मैं परदुःखकातर हूँ। इसे आत्मश्लाघा नहीं कहा जाय, प्रत्युत सत्य भावाभिव्यञ्जना ही समझा जाय। अस्तु, तब क्या करूँ? आवर्तोंमें खो जाऊँ, नवीनताका जामा पहन यथार्थवादी या वस्तुवादी बन जाऊँ?

लेकिन पुनः एक टीस उत्पन्न होती है कि क्या चरित्र-निर्माणके ये पहलू मेरे पूर्व वैचारिक आदर्शोंसे युक्त हो पायेंगे ? ये ऐसे तथ्य हैं, जो मुझे अटकनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देते। आदर्श एवं यथार्थ जीवनकी दो विरोधी विचारणाओंके नाम हैं। एकमें क्षणिक मोहकता है और दूसरेमें मधुर जीवन्त सङ्गीत। मैं अक्षुण्णताप्रिय हूँ और इसलिए चिरन्तन स्रोतकी ही मुझे तलाश है। यों सामाजिकताके वर्तमान मानदण्डोंके सन्दर्भमें स्वयंको अलग अलग न होने देनेके लिए मुझे वस्तुवादी बनना पड़ता है। चूँकि मैं पूर्ण मनुष्य नहीं हूँ, अतएव मुझमें क्षुद्राकांक्षाओंका होना अवश्यभावी है। यही कारण है कि अनेक अवसरोंपर मुझपर वस्तुवाद सवार होता है और अनेक बार सहज ही स्वेच्छापूर्वक मैं उसे स्वीकार करता हूँ। मेरे चरित्रका यह निर्बल किन्तु निर्मल पक्ष है। आकाशकी ओर दृष्टि जाती है तो देखता हूँ कि सुदूर मञ्जिल-की तलाशमें पक्षी अज्ञातको उड़ जा रहे हैं। सोचता हूँ मञ्जिलकी तलाश, किन्तु अज्ञात किंवा अनन्तपर ? कैसी विडम्बना है, यही विडम्बना मेरे दुःखोंका कारण है ! जिसके रहते अनेक अवसरोंपर शैलीकी भाँति 'आइ एम वन हूम मेन लव नोट' का-सा 'पर्सिक्यूशन कॉम्प्लेक्स' मेरे अन्तरको तार-तार कर जाता है।

अहंत्वके इस नवीन दृष्टिकोणको मैं अपने चरित्रका अंग बनाना चाहता हूँ। पाठक इसे सांसारिक अहंत्व न समझें। यह वह सात्त्विक अहंत्व है, जो श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कृष्णने अपने स्वरूप-प्रदर्शन हेतु व्यक्त किया है। इसका आशय यह नहीं कि मैं भगवान्‌की समताका दावा कर रहा हूँ। इसे मात्र सात्त्विक संगति एवं उद्धरणका ही परिणाम समझा जाय। प्रयत्न कर रहा हूँ कि पवित्र गीताके आदर्शोंको अपने जीवनमें उतार सकूँ। ईश्वर न करे, मैं स्वयंको सृष्टिकर्मोंका कर्ता समझूँ :

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥

●

श्रेष्ठ पुरुषोंका संग करे

जिनके विद्या, कुल और कर्म-तीनो उज्ज्वल हों—शुद्ध हो, उन श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवामें रहे; उनके साथ बैठना-उठना शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी श्रेष्ठ है।

[महाभारत वन पर्व अध्याय १/२६]

नाट्य-ओपेरा

काहे भई गुमसुम मुरलिया ?

श्री जगदीश चन्द्रिकेश

★

(ध्वनि-संकेत : बादलोंकी गड़गड़ाहट और तूफानका शोर एकदम तेज होता है और फिर शान्त होता जाता है।)

स्वर उभरता है।

उद्घोषक :

भयौ कंस को अन्त, सबहि जन भये सुखारे।
मिट गयौ भय-आतंक, पुलकि-हर्षहिं नर सारे॥
अन्यायी मिट गयौ, मिटौ अन्याय धरा ते।
मिटी अनीति-कुनीति, गयौ उठि पाप धरा तें॥
दूर भये दुख - द्वन्द्व, भये निरद्वन्द्व सबहि जन।
छुटो जानको फन्द, मुदित अतिसय हर जन-मन॥

(ध्वनि-संकेत : आनन्द और उल्लासकी ध्वनियाँ, चहल-पहल)

उद्घोषक :

मथुरा नगरी बनी सुरग, सगरे सुखकी खानि।
भरपूरे सुख-सन्तोष शान्ति, ज्यों हो इन्द्र-रजधानि॥
राजा उग्रसेन महाराज, विराजे इन्द्रासन पै।
सिरीकृस्न बलराम करैं, सासन परजा पै॥
रिद्धि सिद्धि सिगरे वैभव, उतरे मथुरा में।
भयौ धरमको राजु, सुराजु भयौ मथुरा में॥
गावैं गुनगान श्रीकृष्णके, सगरे नर - नारी।
देव करैं अस्तुती कृष्णकी, गूंजे जन-पद सारी॥

(नर-नारियोंका समूहगान)

श्रीकिशन मुरारी जय होवे ! हे कंस-निकन्दन जय होवे।
हे दुष्ट-निकन्दन जय होवे ! हे श्रीनंद-नन्दन जय होवे,॥
तेरी जय होवे, तेरी जय होवे !

हे गिरवरधारी, जय होवे, हे कुञ्जविहारी जय होवे।
जसुदाके दुलारे जय होवे! राधाके प्यारे जय होवे॥
तेरी जय होवे, तेरी जय होवे!

(ध्वनि वन्द होती जाती है।)

समयका अन्तराल

ध्वनि-संकेत : सङ्गीत-संयोजना

उद्घोषक :

ऐसी मथुरा नगरी हती, ज्यां सुख-चैन बरसती हती।
पर वामेऊँ इक ऐसी मन हो, जो प्यासे चातक सौ तरस तो हो॥
कवहु चैंन न वाकूं मिलतो ही वेचेनी च्यौ ऐं और काएंको।
जा कोऊ पतौ न चलतौ हो, और वो मन हो किशन-कन्हैयाको॥
जुगके इक नूतन अध्याय लिखइया को!

(ध्वनि-संकेत : वेचेनीकी अभिव्यक्ति करनेवाली ध्वनियोंका संयोजन)

उद्घोषक :

(नारी-स्वर)

एक दिन मेहलनमें बैठे भए, श्रीकिशनको मन कछु भरि आयौ।
ज्यों पूरब-जन्मको प्रसङ्ग कोऊ हिचकी की तरह ते याद आयौ॥
या याद आवे जैसे प्रियकी पर चेतन पै ना छा पावै।
यौं वेचैनी वढ़ी इत्ती जादा, गुमसुम ह्वै गए मोहन और जादा॥
मनने चक्कर खायौ तो सही, पैरमें हूँ चक्कर भरि आयौ।
इत ते टेहलैं, उतकूं जाएं, उत ते टेहलैं, इतकूँ आएँ॥
चक्कर पै चक्कर वे खावैं, जिन्हें देख कूबरी घबरावै।
मोहनकी ऐसी लखि कै दशा घबराई कूबरी यौं बोली॥

कुब्जा :

(नारी-स्वर)

हे नाथ, आज च्यौं गुमसुम हौ? च्यौं चक्कर पे चक्कर खाइ रहे।
मैं दासि आप की सेवा में तुम कौनकी यादमें खोय रहे?

समयका अन्तराल

(ध्वनि-संकेत : उत्तरकी प्रतीक्षा। उत्तर नहीं मिलता।
चहल-कदमीकी ध्वनि और तेज हो जाती है)

कुब्जा :

हे नाथ, कछू बोलौ तो सही? मनकी गाँठें, खोलौ तो सही?

समयका अन्तराल

(ध्वनि-संकेत : उत्तरकी प्रतीक्षा–उत्तर नहीं मिलता ।
चहल-कदमीकी ध्वनि बराबर जारी है ।)

कुब्जा :

हे ब्रज-बल्लभ !
जा दासी ते, का कछु अपराध भयौ ? काहे अनबोलो स्वामी ने है साधौ ?
या खोट भयौ मोसे कछु और प्रभू—मन अपने में का नाथ आपने साधौ ?
कैसे अनहोनी जे बात, नाथ आज भई ? कछु तो बोलो नाथ, आज का बात भई ?

समयका अन्तराल

(ध्वनि-संकेत : उत्तरकी प्रतीक्षा—उत्तर नहीं मिलता ।
पगध्वनि और तेज हो जाती है ।)

उद्‌घोषक :

(पुरुष-स्वर)

कुब्जाकी पुकार पे हू वो रहे मौनके मौन,
ध्यान-मगन समझै नहीं, बाहर खाड़ौ कौन ?
देख दशा जे श्यामकी सबहि गये घबराय,
कुब्जा वेचारी सहित दासी गई पथराय ।
घबराये सबके सबी, पै वो सब निरुपाय,
जाई समय पै पवनने कीन्हों जादू आय ।

(ध्वनि-संकेत : पवनके चलनेकी ध्वनि, वस्त्रोंको फरफराहट)

जमुना तटकी गंध लै और कुञ्जनकी बास,
आयौ झौंका पवनको, शीतल-मंद-सुबास ।
शीतल जलकी छींट ज्यौं लाय होश लौटाय,
ऐसेहूं ज्या पवनने, दई चेतनता बहुराय ।
चेतनता और मगनता मिलि सरजै सृष्टि विचित्र,
ऐसेहूँ भई किशनके मनकी दशा विचित्र ।
शीतल मन्द सुगन्ध पवनने, दोहराए पूर्व-प्रसंग,
मेघ पवन संग ज्यों चले, वो चलि दए वाके संग ।

(ध्वनि-संकेत : तेजीसे बाहर जाते हुए पगोंकी ध्वनि । पग-ध्वनि
चलती चली जाती है । संगीत-संयोजना)

उद्‌घोषक :

देह सुधि भान नहीं, कैसोऊ कछु ज्ञान नहीं ।
कोऊ कछू भेद नहीं, राजा रंक भेद नहीं ॥

पवनके पीछे-पीछे, किशन दौड़े चले गए।
जमुनाके कछारनमें, वेरिनके कुञ्जनमें ॥
लहरनकी कलकलमें भँवरनकी हलचलमें।
कृष्ण फिर लौट गए, बिगतके जीवनमें ॥
लौटत हि पीछे कूँ, याद आयी राधा।
याद आए संगी-साथी, याद आई सखियाँ ॥
याद आये माता-पिता, याद आए परिजन।
याद आये गैया-वछड़ा, याद आये पुरजन ॥
याद आयी केलि-क्रीड़ा, याद आयौ वचपन।
वचपन की याद आते, कौंधि गयी विजुरी ॥
तो कृष्ण उठे बोलि यों—

कृष्ण :

(विषादभरा स्वर)

कित्ते दिन वीत गए, मथुरामें आए मए।
हाय कवहूँ छुई नहीं बाँसुरौ, मेरी प्राणप्रिया बाँसुरी ॥
मेरे मनकी उजागरी, खालीपनके छिननकी।
साथिन मेरी बाँसुरी !
गोकुलकी मोहिनी मेरी प्यारी बाँसुरी।
और मेरी मोहिनीकी सौति प्यारी बाँसुरी, !!
ओह ! कित्ते दिन बीत गए, मथुरामें आये मए।
कवहूँ न अधरन धरी। हाय, मैंने प्यारी बाँसुरी ॥

(समयका अन्तराल : संगीत-संयोजना)

उद्घोषक :

(स्त्री-स्वर)

करि बंसीकी याद कृष्णने हाथ बढ़ायो।
फैंटामें से काढि वाए अधरन रस प्यायौ ॥
लगि अधरन ते युगल करनमें, यौं सोभे बंसी।
ज्यौं लिपट गले ते जाए, कामिनी परदेशी पतिकी ॥
करि संचय साँस प्रसंसि, किसनने बंसी फूँकी।
अन्तरतम को नेह खींचके, बंसीधरने बंसी फूँकी ॥
जाते गूँजे कुञ्ज, गली और गलियारे।
जमुना थमे पवन थम जाएं चाँदाहूँ जमि जाए ॥

और आँखिनिमें फिर ते वृन्दावन बस जाए।
ये किसनने मनहि बिचारी, संचय करिके सांस कृष्णने—
बंसी पुनहि पुकारी।

(वंशोको बार-वार फूँकनेकी आवाज)

समयका अन्तराल

(संगीत-समायोजन।)

कृष्ण :

(भाव-विह्वल हो मानिनीको मनानेके स्वरमें)

काहे भई गुमसुम, मुरलिया काहे भई गुमसुन ?
बजा-बजा कै मैं तोए हारौं, काहे न बाजे तू आज मुरलिया ?
इत्ते दिनन ते न अधर धरी तू, जा मारे रूठि गई का मुरलिया ?
तू सब जाने मेरी लड़ैती, दो छिन कबहूँ चैन मिलौ ना।
आज भयौ संजोग जे, ताउ पै तू रूठी मुरलिया ?
बोल कछू तो बोलि, बोल कछू मेरी प्यारी मुरलिया।
बोल कछू अभिमानिन मुरलिया ?

समयका अन्तराल

(खामोशी, उत्तरकी प्रतीक्षा। उत्तर नहीं मिलता)

उद्‌घोषक :

किसन मुरलियाए मना-मनाके हारे। वा मानिनिके उनने कोनै बहुत निहोरे ॥
तौ कहूं मुरलिया बोली ज्यौं मानिनि मनवैयाकी हो ली ॥
यौं मुरलिया बोली !

(ध्वनि-संकेत : वंशी-ध्वनि :
वंशी-ध्वनि मंद-तीव्र फिर मन्द होती जाती है)

वंशी :

(नारी-स्वर)
(अभिमानिनी नायिकाकी भाँति)

मेरे पीतम किशन-कन्हैया, तुम हौ निरे अनाड़ी।
प्यारे, बिलकुल निरे अनाड़ी !
प्रीतम तुम पुरुषोत्तम पुरुषन हूँमें उत्तम।
और प्यारे मैं हूँ नारी !
कहा सकौ हौ जानि तुम प्यारे नारी मनकी बात ?
मैं जानू हूँ तुम पुरुषनके मनकी चाल-कुचालो घात ॥

प्रतिद्वन्द्वी हूँ भले राधिकाकी पर मैं हूँ नारी।
मेरी जैसी दुखियारी वहाँ होगी वो बेचारी ॥
वजाय रहे हो वंसी याँ पै छेड़ रहे हो राग।
का मतलवु ? का मानी याँ पै मारू और विहाग ॥
कैसे गाऊँ तेरे स्वरमें मैं हे मोहन प्यारे।
ना वाजूंगी तेरे सुरमें मेरे बंसी - वारे ॥
यहाँ कहाँ मानिनो राधिका और कहां बृज-बनिता।
गइया वछरा यहाँ कहाँ है और कहाँ है ललिता ?
विना सौतिया - डाह कहाँ हैं स्पर्धा प्यारे ?
होड़ विना आवेग कहाँसे लाऊँ नन्द - दुलारे ?

(वंशी-संगीतका क्षणिक अन्तराल)

मैं वज न सकूंगी प्रीतम विन राधा प्यारीके।
राधा खिल न सकेगी प्रीतम विन तेरी क्यारीके।
सो लौटि चलो घनश्याम अभी गोकुल कूँ ॥
लौटा देउ वचपनके दिन फिर गोकुल कूँ।
लौट चलो घनश्याम अभी गोकुल कूँ ॥

समयका अन्तराल

(वंशीकी गूँज : अनुगूँज। वंशी-ध्वनि मन्द होती जाती है। साथ ही पद-चापकी ध्वनि सुनायी पड़ने लगती है)

उद्घोषक :

(पुरुष-स्वर)

सुन मुरलीकी वात, श्याम विह्वल ह्वै आए।
गोकुलको चल दिए पर चरन डगमगा आए ॥

समयका अन्तराल

(पद-चाप-ध्वनि)

उद्घोषक :

(नारी-स्वर)

विरहोके मनकी व्यथा समझ सकै है कौन ?
गये श्याम कित ओर कूँ जे जाने है कौन ?
(संगीत-ध्वनियाँ धीरे-धीरे डूब जाती हैं।)

॥ समाप्त ॥

●

'चर्पट-पञ्जरी' : एक दार्शनिक विश्लेषण

श्री शिवेन्द्रप्रसाद गर्ग 'सुमन'

*

२.

यावद् वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः।
पश्चाज्जर्जरभूते देहे वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥ ९ ॥ भज···

मनुष्य जबतक धन कमाकर लानेमें समर्थ होता है, तभीतक उसका परिवार, कुटुम्ब उसके अधीन रहता है, प्रीति रखता है। पीछे शरीर दुर्बल होनेपर जब वह कमानेमें असमर्थ हो जाता है, तो घरमें कोई बात भी नहीं पूछता। (अतएव संसारको असार समझकर तू गोविन्दको भज !)

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः।
न त्वं नाहं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥ १० ॥ भज····

मार्गमें पड़े हुए फटे-पुराने कपड़ेके टुकड़ोंकी गुदड़ी बनाये हुए पापपुण्यसे रहित मार्गमें (प्रवेश कर) न तू है, न मैं हूँ, न यह लोक है, अर्थात् यह सब असत्य और मायारूप है, तो भी क्यों शोक करता है ? तात्पर्य यह कि चाहे तू मार्गमें पड़े चिथड़ोंकी गुदड़ी बना ओढ़ने लगे; पाप-पुण्यके मार्गको छोड़ दे; 'मैं', 'तू' या 'लोक'––किसी बातका शोक न करे, तब भी––वैसी अवस्थामें भी कल्याण तो गोविन्दका भजन करनेसे ही होगा। (अतएव तू गोविन्द भज !)

नारीस्तनभरजघननिवेशं दृष्ट्वा मायामोहावेशम्।
एतन्मांसवसादिविकारं मनसि विचारय वारंवारम् ॥ ११ ॥ भज···

अर्थात् नारीके माया और मोहके आवेशरूप स्तनोंके भार एवं जाँघोंकी रचना देखकर मिथ्या मोहमें मत फँस। इन अङ्गोंको देखकर (जो कि पुरुषके चित्तमें माया एवं मोहका उद्वेग उत्पन्न करते हैं) मनमें बार-बार यह विचार कर कि ये मांस, चर्बी आदिके विकार हैं––इन्हींसे बने हुए हैं ! (इस प्रकार मनमें विचारकर तू गोविन्दको भज !)

गेयं गीता-नामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥ १२ ॥ भज···

तात्पर्य यह कि गीता और विष्णुसहस्रनामको गाना चाहिए; लक्ष्मीपति विष्णु भगवान्‌के रूपका सदैव ध्यान करना चाहिए; सज्जनोंके पास चित्त ले जाना चाहिए और दीनजनोंको दान देना चाहिए। (गीता आदिपर विचारकर उनके तत्त्वको जाननेका प्रयास नहीं किया, विष्णु भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान नहीं किया, सज्जनोंका सङ्ग भी नहीं किया और न दीनोंको धन देकर उनका दुःख दूर दिया, अतएव अब कमसे कम गोविन्दका तो भजन कर।)

भगवद्गीता किञ्चिदधीता गङ्गाजललवकणिका पीता।
येनाकारि मुरारेरर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥ १३ ॥ भज···

आशय यह कि जिस मनुष्यने भगवद्गीता थोड़ी सोची-पढ़ी और गंगाजलका एक कण (विन्दु) भी पिया और मुरारि (कृष्ण भगवान्) की पूजा की है, उसकी चर्चा यम क्या करेगा? अर्थात् ऐसे पुरुषोंको यम-यातना कदापि नहीं हो सकती (यदि तू ऐसा करता तो यमकी क्या ताकत थी, जो तेरी चर्चा भी कर लेता? अच्छा, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, तू गोविन्दको भज!)

कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं सर्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥ १४ ॥ भज···

अर्थात् मैं कौन हूँ, तू कौन हैं, कहाँसे आया है, मेरी माता कौन है, मेरा पिता कौन है? (अर्थात् यह सब माया और असत्य है), इसका विचार कर तथा इन्हें स्वप्नके समान जानकर सब कुछ त्याग दे। (इस समस्त असार संसारको स्वप्नके विचार की तरह समझकर इसकी आशा त्याग दे और तू गोविन्दका भजन कर।)

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं कः कुत आयातस्तत्त्वं चिन्तय मनसि भ्रान्तः ॥ १५ ॥[1] भज····

अर्थात् कौन तेरी पत्नी है, कौन तेरा पुत्र हैं? यह संसार बड़ा ही विचित्र है। किसका तू कौन है और कहाँसे तू आया है? भ्रममें पड़ा हुआ तू मनमें इस तत्त्व यानी सच्ची बातका विचार कर। (यह संसार माया है, अतएव ये सब सम्बन्ध भी झूठे ही हैं। हे भाई! यह सब विचार करके तो देख। इन सब बातोंके तत्त्वपर विचार कर और तू गोविन्दको भज!)

सुरतटिनी-तरुमूलनिवासः शय्या भूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः ॥ १६ ॥ भज····

इस अन्तिम १६वें श्लोकका अभिप्राय यह है कि गंगाजीके किनारे वृक्षके नीचे निवास, पृथ्वीकी शय्या (चारपाई), मृगचर्मके वस्त्र, सब प्रकारके परिग्रहों और भोगोंका त्याग—

१. इस श्लोकके प्रथम चरणमें 'ते'की जगह 'तव'; तृतीय चरणमें 'कःकुतः'की जगह 'वा कुत' और चतुर्थ चरणमें 'मनसि भ्रान्तः'की जगह 'तदिदं भ्रा ।ः' ये पाठभेद मिलते हैं।

ऐसा वैराग्य किसको सुख नहीं देता ? अर्थात् सबको सुख देता है। (परन्तु ऐसा सब कुछ करके वैरागी हो जानेपर भी बिना गोविन्दका भजन किये सुख नहीं मिल सकता। अतएव हे मूढ़ ! तू गोविन्दका भजन कर !)

× × ×

श्रीमच्छंकराचार्य विरचित समस्त ग्रंथोंका सार 'गागरमें सागर' 'चर्पट-पंजरिका' की अधिकांश प्रतियोंमें उक्त १६ श्लोक सुमन ही मिलते हैं। परन्तु एक प्रतिमें चार अन्य श्लोक और भी थे। यद्यपि उनका भाव उपर्युक्त श्लोकोंमें अवश्य आ गया है, तथापि उन्हें प्रस्तुत करता हूँ, ताकि सम्भावित अपूर्णता न रहे।

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः, पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं तदपि न मुञ्चत्याशामर्षम्॥ १॥ भज...

सुखतः क्रियते रामाभोगः पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः।
यद्यपि लोके मरणं शरणं तदपि न मुञ्चति पापाचरणम्॥ २॥ भज...

यावज्जीवो निवसति देहे कुशलं तावत् पृच्छति गेहे।
गतवति वायौ देहापाये भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये॥ ३॥ भज....

कुरुते गङ्गासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीने सर्वमनेन मुक्तिर्न भवति जन्मशतेन॥ ४॥ भज....

इन चारों श्लोकोंका आशय एवं भाव इस प्रकार है :

दिनके बाद रात और रातके बाद दिन; दिनोंके बाद सप्ताह और महीने बीतते हैं। महीने-महीने करके ६ ऋतुएँ एवं ऋतुओंके बीतते वर्षों गुजर जाते हैं, मगर आशा कभी नहीं मरती। नित्य नये-साज लेकर जीवोंको नचा रही है। यह आशा तो तब मरेगी, जब कि जीव परमात्माका भजन करेगा॥ १॥

झूठा सुख मानकर नारी-संग किया, इसके पश्चात् शरीरको रोगोंने घेर लिया। यद्यपि सभी लोगोंको कालकी शरण जाते हुए देख रहा है, फिर भी पापकर्मोंको नहीं छोड़ता। मगर पापोंमें चैन कहाँ ? गोविन्दका भजन करनेसे ही पापोंसे छुटकारा होगा॥ २॥

जबतक शरीरमें प्राण हैं, तभीतक घरके प्यारे लोग उसकी कुशलता पूछते हैं। मगर प्राणोंके प्रयाण करते ही यह शरीर किसीके मतलबका नहीं रहता, पत्नी भी उसके पास जानेमें डरती है। अतः देहसे प्यार करनेवालोंसे किसी प्रकारकी आशा न करके और शरीरको क्षणभंगुर जानकर गोविन्दका भजन करना चाहिए॥ ३॥

चाहे गंगासागर आदि तीर्थोंमें गमन करो। अनेक व्रतोंका परिपालन करो अथवा अनेक प्रकारके दान करते रहो। मगर आत्मज्ञानके बिना सौ जन्मोंमें भी मोक्ष नहीं मिलेगा और न कभी जन्म-मरणसे छुटकारा ही होगा; क्योंकि सबका सार

तो गोविन्दका भजन ही है। इसलिए गोविन्दका भजन करके चपेटोंके पिंजरेसे छूटनेका प्रयत्न करें ॥ ४ ॥

यह उल्लेखनीय है कि "चर्पट-पञ्जरी" 'चर्पट-पञ्जरिका' शीर्षकके दो अभिप्राय हो सकते हैं : १. यह शरीर चपेटोंका पिंजरा है, इसमें चोटें एवं चपेटें लगती ही रहती हैं या २. यह पुस्तिका स्वयं चपेटोंका पिंजड़ा है। इसे पढ़नेसे आपके अज्ञानपर ज्ञानकी चोटें एवं चपेटें लगेंगी। आप चोट एवं पीड़ा-सी अनुभव करेंगे एवं तब कुछ परिवर्तन होगा। 'चर्पट-पंजरिका' का एक-एक श्लोक 'बिन्दुमें सिन्धु' की भाँति है। विशेषत: ३, ४, ११ एवं १५ श्लोक बहुत प्रेरक, महत्त्वपूर्ण एवं सारवान् हैं। श्लोक १५ तो बहुत ही लोकप्रिय एवं वैराग्यका प्रणेता हुआ है। इसपर बहुत कुछ लिखा गया है। सचमुच हमारे जीवनमें हमें यही सोचना है, जैसा कि इस श्लोकमें बताया गया है :

का तव कान्ता, कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।

वस्तुतः यह संसार बड़ा ही विचित्र है! न कोई किसीका पुत्र है और न कोई किसीकी पत्नी, हम व्यर्थ ही किसीको भूलसे अपना समझ बैठे हैं, वरना कोई भी किसीका नहीं। यह हमारा मोह है, हमारी भूल है। निराशा होनेपर हमें दुःख होता है, रोना आता एवं हम पछताते हैं। अतएव उक्त मार्मिक वचन भलीभाँति हृदयंगम किये जाने चाहिए। सम्पूर्ण सार एवं निचोड़ यही है। आशा है, उक्त विवेचन पाठकोंको रुचिकर होगा।

कुँवर कन्हैया कौन ?

(१)

ठाकुर त्रिलोकी का है, श्याम-घन-सुन्दर जो,
द्वापर में, लीला-अवतार का धरैया है।
व्रज का बसैया, और गैया का चरैया अहो—
जमना के कालीदह-नाग का नथैया है।
वंशी का बजैया, गोपी-रास का रचैया वही—
कंस जैसे क्रूरों का, जो जीवन-हरैया है।
कहे 'कविपुष्कर' यशोदानन्द-लाल बना—
राधा-प्राण-प्यारा, न्यारा कुँवर कन्हैया है।

—कवि पुष्कर

ब्रह्मसूत्रमें जगन्माताका स्वरूप

ब्रह्मलीन श्री हाराणचन्द्र भट्टाचार्य

★

महर्षि बादरायण-प्रणीत ब्रह्मसूत्र चार अध्यायोंमें विभक्त है। उनमें प्रथम अध्यायका नाम समन्वय अध्याय, द्वितीयका नाम अविरोध, तृतीयका नाम साधन और चतुर्थका नाम फल-अध्याय है। इनमें प्रथम अध्यायमें समस्त श्रुतियोंका ब्रह्ममें समन्वय दिखाया गया है, द्वितीयमें युक्ति तथा शास्त्रके साथ प्रथम अध्यायमें प्रदर्शित समन्वयका विरोध-परिहार किया है, तृतीयमें ब्रह्मज्ञानके साधनका निरूपण है तो चतुर्थमें ब्रह्मज्ञानके फलपर विचार किया गया है।

इस उत्तरमीमांसा-शास्त्रके प्रथम चार सूत्र 'चतु:सूत्री' नामसे प्रसिद्ध हैं। श्री वल्लभाचार्यजीके अणुभाष्यमें द्वितीय तथा तृतीय सूत्रको मिलाकर एक ही सूत्र माना गया है, इस कारण उनके सिद्धान्तमें प्रथम तीन ही सूत्र हैं और वे 'त्रिसूत्री' कहे जाते हैं।

जिनके मतमें चार सूत्र प्रथम हैं, उनके मतमें प्रथम सूत्र ('अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' १.१.१) में ब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा की है। द्वितीय सूत्र ('जन्माद्यस्य यत:' १.१.२) में ब्रह्मका लक्षण कहा है। तृतीय सूत्र ('शास्त्रयोनित्वात्' १.१.३) में उस ब्रह्ममें शास्त्रको ही प्रमाण कहा। और चतुर्थ सूत्र ('तत्तु समन्वयात्' १.१.४) में समस्त शास्त्रोंका ब्रह्ममें तात्पर्य होनेसे ब्रह्म ही शास्त्रका प्रतिपाद्य है, इसका निरूपण कर तृतीय सूत्रमें प्रदर्शित शास्त्रकी ब्रह्ममें प्रमाणताका समर्थन किया गया है। शेष समस्त सूत्र चतुर्थ सूत्रमें प्रतिपादित सिद्धान्तके विस्तारमात्र हैं। इसीलिए विद्वद्वृन्द 'चतु:सूत्री'को ही उत्तरमीमांसाका सार मानते हैं।

जिनके (वल्लभाचार्यके) मतसे 'त्रिसूत्री' है, उनके मतमें द्वितीय सूत्रका स्वरूप 'जन्माद्यस्य यत:, शास्त्रयोनित्वात्' इस प्रकार है। इसी द्वितीय सूत्रमें ब्रह्मका लक्षण और प्रमाण साथ-ही-साथ कहा गया है। 'तत्तु समन्वयात्' सूत्रमें ब्रह्मका समवायिकारणत्व सिद्ध किया गया है।

प्रसिद्ध भाष्यकारोंके व्याख्यानके अनुसार ब्रह्मसूत्रसे भगवती भवानीका स्वरूप ब्रह्म ही सिद्ध होता है। ब्रह्मसूत्रमें 'जन्माद्यस्य यत:' (१.१.२) यह ब्रह्मका लक्षण है, यह निर्विवाद है। इस सूत्रकी व्याख्या भगवान् शङ्कराचार्यने इस प्रकार की है :

अस्य जगतो...... जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद् ब्रह्म। (शाङ्करभाष्य १.१.२)

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत्।
त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा ॥ (सप्तशती १.७५)

सप्तशतीके इस वाक्यसे जगत्के जन्म, स्थिति और लयका कारण भगवती आद्याशक्ति हैं, यह स्पष्ट है। बादरायणका ब्रह्म-लक्षण भगवती भवानीमें पूर्णरूपसे मिलता है, इससे भगवती भवानी ब्रह्मस्वरूपिणी सिद्ध होती हैं। पूर्वोक्त सप्तशतीके वाक्यमें 'त्वयैतद् धार्यते विश्वम्' कहकर जगज्जननीको विश्वके धारणमें भी कर्त्री बताया है। यह धारण पालनके ही अन्तर्गत है, धारणके बिना पालन नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्मसूत्रके साथ उक्त सप्तशतीके वाक्यकी एकवाक्यता स्पष्ट है। [स्थिति और पालन समानार्थक हैं, इसलिए उनमें भेद नहीं मानना चाहिए।]

यहाँ यह शङ्का उठ सकती है कि बादरायणकी उत्तरमीमांसा वेदके उत्तरभाग ज्ञानकाण्डकी मीमांसा है, पुराणोंकी मीमांसा नहीं। इसलिए व्याससूत्रमें यह ब्रह्म-लक्षण पुराणोंके अभिप्रायसे नहीं, श्रुतिके अनुसार कहा है। वह श्रुति यह है :

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।
(तैत्तिरीय उपनिषद् ३.१)

ठीक है। किन्तु भगवान् वेदव्यासने ही इसका समाधान कर दिया है :

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥
(महाभारत १.१.२६७-२६८ : वङ्गवासी संस्करण)

अर्थात् 'इतिहास और पुराणसे वेदके अर्थका निर्णय करना चाहिए, जो अल्पश्रुत है : इतिहास तथा पुराण नहीं जानता, वेद उससे भयभीत रहता है कि यह मुझपर प्रहार करेगा, मेरे अर्थका अनर्थ कर डालेगा।'

व्यासजीकी इस उक्तिसे स्पष्ट है कि उन्होंने वेदकी व्याख्यारूपमें ही पुराण-इतिहासका निर्माण किया है। पुराण-इतिहास स्वयं व्यासद्वारा निर्मित वेदभाष्य ही हैं। अब 'त्वयैतद् धार्यते विश्वम्' आदि सप्तशतीकी उक्तिके अनुसार उक्त तैत्तिरीय-श्रुतिका तात्पर्य-निर्धारण करनेपर दोनोंकी एकवाक्यतासे जगदम्बिका भवानी ब्रह्म ही सिद्ध होती हैं। कहना नहीं होगा कि 'सप्तशती' मार्कण्डेयपुराणके अन्तर्गत है और मार्कण्डेयपुराण अत्यन्त प्राचीन है।

केवल भगवान् शङ्कराचार्यने ही 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रकी व्याख्यामें जगत्के जन्म, स्थिति, लयको ब्रह्म लक्षण नहीं कहा, भगवान् रामानुजाचार्य तथा भगवान् वल्लभाचार्य भी इस विषयमें शङ्कर भगवत्पादके साथ एकमत हैं।[1]

---

१. 'जन्मादीति सृष्टिस्थितिप्रलयम्।'—(श्रीभाष्य १.१.२)
उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहत्।
वेदेन बोधितं तद्धि नान्यथा भवितुं क्षमम् ॥—(अणुभाष्य १.१.२)

भगवान् निम्बार्काचार्यने जन्म, स्थिति, लयके साथ मोक्षको भी लेकर 'जगत्के जन्म, स्थिति, लय तथा मोक्षका कारण परब्रह्म हैं' इस प्रकार व्याख्या की है। उनके भाष्यके अनुसार जगत्के जन्म, स्थिति, लय और मोक्ष ब्रह्मके लक्षण हैं। तदनुसार भी आद्याशक्तिके ब्रह्मस्वरूप होनेमें कुछ विरोध नहीं।

सप्तशतीके प्रारम्भमें ही मेधस् ऋषिने राजा सुरथ तथा वैश्यसे कहा है :

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये। (१.५३)
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी। (१.५७)

इससे जगदम्बिका मोक्षकी कारण है, यह स्पष्ट है।

भगवान् मध्वाचार्य 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रकी व्याख्यामें लिखते हैं :

सृष्टि-स्थिति-संहार-नियमन-ज्ञानाऽज्ञान-बन्ध-मोक्षा यतः।

इनके सिद्धान्तमें जिस प्रकार ब्रह्म जगत्की सृष्टि, स्थिति, लय और मोक्षका कारण हैं, उसी प्रकार जगत्के नियमन, ज्ञान, अज्ञान और बन्धका भी वह कारण है। इससे, सृष्टि, स्थिति, लय, नियमन, ज्ञान, अज्ञान, बन्ध, मोक्ष इन आठोंकी कारणता माध्वमतमें ब्रह्मलक्षणके अन्तर्गत है। भगवती भवानीमें ये आठों ही विद्यमान हैं :

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत्।
त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥ (१.७५)
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये॥ (१.५६)
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥ (१.५७.५८)
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥ (१.५५)

सप्तशतीके ये श्लोक एक साथ पढ़नेपर मध्वाचार्य-सम्मत ब्रह्मलक्षण भगवतीमें स्पष्ट जाते हैं। प्रथम श्लोकमें जन्म, स्थिति, लयके साथ धारण भी कहा है। यहाँ धारण तथा नियमन एक ही वस्तु है। **धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः** (१.३.१६) सूत्रके शाङ्कर-भाष्यमें धारण और नियमन एक ही वस्तु कही गयी है। यथा :

यथोदकसन्तानस्य विधारयिता लोके सेतुः क्षेत्रसम्पदामसम्भेदाय, एवमयमात्मा एषामध्यात्मादिभेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादीनां च विधारयिता सेतुरसम्भेदायासङ्कराय।

अर्थात् जिस प्रकार लोकमें जलोंके धारण करनेवाला सेतु (बाँध) खेतोंको परस्पर पृथक् करनेके लिए रहता है, उसी प्रकार परमात्मा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक जगत् तथा वर्णाश्रमादि मर्यादाओंको परस्पर पृथक् करनेके लिए इनके धारण करनेवाले सेतुरूप हैं।

जो सबको ठीक-ठीक मर्यादापर चलाता है, लोकमें उसीको नियामक (नियमनकर्ता) कहते हैं और उसके कार्यको नियमन कहा जाता है। परमात्मा सबको अपनी-अपनी मर्यादामें धारण करते हैं, इसीलिए वे विधारक सेतु हैं। इस प्रकार धारण तथा नियमन एक ही वस्तु सिद्ध होती है।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥ (१.५५)

इससे भगवती जीवोंके अज्ञानका कारण सिद्ध होती हैं।

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी। (१.५५)

यहाँ जगन्माताको मोक्षका कारण ज्ञानस्वरूप कहा है। इससे सूचित होता है कि जीवोंको ज्ञान भी भगवतीकी कृपासे ही होता है।

मध्वाचार्यने कहा है कि ज्ञान और अज्ञान दोनों ब्रह्मसे होते हैं। सप्तशतीमें भी वही कहा गया है। एक ही परमात्मा जीवके कर्मके अनुसार किसीको ज्ञान देते हैं तो किसीको अज्ञानमें डालते हैं। इसमें जीवका कर्म ही मूल है, परमात्मा केवल विचार कर योग्यतानुसार फल देते हैं।

संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी। (१.५८)
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये। (१.५६)

इनमें प्रथम श्लोकांशमें जहाँ जगज्जननीको बन्धका कारण कहा है, वहीं दूसरे श्लोकांशमें मोक्षदायिनी भी बताया है। इस प्रकार जगत्‌के जन्म, स्थिति, लय, नियमन, ज्ञान, अज्ञान, बन्ध, मोक्ष--इन सबकी हेतु जगदम्बिकाके सिद्ध होनेपर मध्वाचार्यका भी ब्रह्मलक्षण आद्याशक्ति भवानीमें घटता है।

ऊपर प्रदर्शित प्रकारसे ब्रह्मसूत्रके प्रसिद्ध भाष्यकारोंके अनुसार जगन्माताके ब्रह्मस्वरूप होनेमें कोई सन्देह नहीं। वैष्णवोंने ब्रह्मको विष्णुस्वरूप तथा शैवोंने उनको शिवस्वरूप माना है। एक ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न कार्यके लिए शास्त्रमें भिन्न-भिन्न नामोंसे कहा गया है:

यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स योऽयं ब्रह्माय यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स एव विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधाभूतः। (मैत्रायणी उपनिषद ४.५)

रजोगुणका कार्य सृष्टि है; इसलिए रजोगुणरूप उपाधिसे ब्रह्म ब्रह्मा कहे जाते हैं। तमोगुणका कार्य संहार है, अतः तमोगुणरूप उपाधिके अनुसार ब्रह्म रुद्र (शिव) कहे जाते हैं। और सत्त्वगुणका कार्य पालन होनेसे सत्त्वगुणरूप उपाधिसे ब्रह्म विष्णु कहे जाते हैं। जिस प्रकार एक ही मनुष्य कार्यभेदसे पिता, पुत्र, पति, भाई आदि भिन्न-भिन्न शब्दोंसे पुकारा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म एक होते हुए भी ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इन तीन नामोंका भागी

होता है। पुराणोंमें विष्णुरूपमें भी दैत्य-संहार-कार्य देखते हैं; यद्यपि वह संहार साधुओंके पालनेके लिए हैं; तथापि संहार होनेसे तमोगुणका कार्य अवश्य है और उस स्थितिमें विष्णु-मूर्तिमें होनेपर भी ब्रह्म रुद्र भी है। इसी प्रकार शिवजीने जगत्के पालनके लिए त्रिपुर-संहार किया है, इसलिए पालनकी दशामें शिवमूर्तिमें ही वे विष्णु भी हैं। इसी कारण वैष्णवोंके परममान्य बृहन्नारदीय पुराणमें शिव और विष्णुका अभेद कहा गया है :

शिव एव हरिः साक्षाद् हरिरेव शिवः स्वयम्।
तयोरन्तरकृद्याति नरकान् कोटिकोटिशः॥
(बृहन्नारदीय पुराण १४.२१४ : एशियाटिक सोसाइटी-संस्करण)

जगन्माता भी एक ही मूर्तिमें सृष्टि, स्थिति, लयकी कर्त्री होनेसे ब्रह्मा, विष्णु और शिवस्वरूपा हैं :

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥
—(सप्तशती १.७५)

इसलिए हम भी भक्ति-विनम्र हृदयसे उनको नमस्कार करते हैं :

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

●

गोपाष्टमी

कार्तिक शु० अष्टमीको 'गोपाष्टमी' नामक उत्सव सारे भारतमें मनाया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने प्रतिपदासे लेकर सप्तमीतक सात दिन गोवर्धन पर्वतको छत्रकी भाँति उठाकर उसके नीचे व्रजकी गौओं तथा गोपोंका कुपित इन्द्र द्वारा की गयी प्रलयंकर वृष्टिसे संरक्षण किया था। इसीके उपलक्ष्यमें अष्टमीको उक्त उत्सव आयोजित होता है। इस दिन गौओंका विशेष समादर किया जाता है। यह पर्व प्रतिवर्ष हमें सतत् गोधनकी रक्षाके लिए प्रबल प्रेरणा प्रदान करता है।

●

प्रेरक और सान्त्वनाप्रद

श्रीकृष्णके वचन

★

कर्म करना आवश्यक

श्रीकृष्णके वचन कर्मपर ही बल देते हैं। ज्ञानका भी महत्त्व है; किन्तु कर्मत्यागसे ज्ञानीका भी काम नहीं चल सकता। कर्म सबके लिए सदा अनिवार्य हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं : "कोई तो कर्म करनेसे ही परलोकमें सिद्धि-लाभ बताते हैं तो कुछ लोग कर्मको त्यागकर ज्ञानके द्वारा ही सिद्धि (मोक्ष) का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु विद्वान् पुरुष भी भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंको भोजन किये बिना तृप्त नहीं हो सकता; अतः उसके लिए भी यह परम आवश्यक हैं कि वह भूखका कष्ट दूर करनेके लिए भोजन करे। जो विद्याएँ कर्मका संपादन करती हैं, उन्हींका फल दृष्टिगोचर होता है, दूसरी विद्याओंका नहीं। विद्या तथा कर्ममें भी कर्मका ही फल प्रत्यक्ष दिखायी देता है। प्याससे पीडित मनुष्य जल पीकर ही शान्त होता है, उसे जानकर नहीं। अतः गृहस्थ-आश्रममें रहकर सत्कर्म करना ही श्रेष्ठ है।"

(महाभारत, उद्योग० २९.६-७)

चोर-डाकुओंके वधसे पुण्य

समाजकी सुख-शान्तिको लूटनेवाले, अबलाओंपर अत्याचार करनेवाले तथा हिंसक-वृत्तिको अपनाकर लोगोंके जीवन और प्राणोंका क्रूरतापूर्वक अन्त करनेवाले दुष्ट मनुष्य मानवता-के शत्रु हैं, आततायी हैं। इन दस्युओंका, चोर-डाकुओंका संगठित रूपसे सामना करके इन्हें मौतके घाट उतार देना चाहिए। इनके वधसे लाख-लाख प्राणियोंकी रक्षाका पुण्य प्राप्त हो सकता है—यह भी श्रीकृष्णका सुनिश्चित मत है। वे एक स्थानपर कहते हैं :

"देवराज इन्द्रने दस्युओंका वध करनेके लिए ही कवच, अस्त्र-शस्त्र तथा धनुषका आवि-ष्कार किया है। लुटेरोंका वध करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है।"

(महा०, उद्यो० २९.३०)

आभार या ऋण मानना

भगवान् श्रीकृष्ण कितने दयालु और परदुःखकातर हैं, इसका प्रमाण द्रौपदी-चीर-हरणके प्रसंगमें प्राप्त होता है। कौरव-सभामें जब कोई भी वीर, स्वयं पाण्डव भी द्रौपदीकी लज्जाका रक्षण न कर सके तब उसने बड़े कातरभावसे 'गोविन्द! द्वारकावासिन्!' कहकर श्रीकृष्णको पुकारा। वे तो सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी ही ठहरे, तत्काल वहाँ वस्त्ररूपमें अवतीर्ण हो गये। दुष्ट दुःशासन खींचते-खींचते थक गया, पर वस्त्रका पार न पा सका।

द्रौपदीकी लाज बच गयी। परन्तु श्रीकृष्ण यह नहीं मानते कि मैंने द्रौपदीकी आर्त पुकारका बदला चुका दिया। वे तो उस करुण पुकारको अपने ऊपर निरन्तर बढ़नेवाला ऋण मानते रहे। वे जानते थे कि जिन अत्याचारियोंने द्रौपदीको नग्न करनेकी चेष्टा की है, उन सबको इस पापका कठोर दण्ड मिलना ही चाहिए। जबतक यह नहीं हुआ, तबतक द्रौपदीका ऋण बढ़ रहा है। वे संजयसे कौरवोंको संदेश देते हुए कहते हैं :

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥

"जिस समय द्रौपदीका चीर खींचा जा रहा था, मैं हस्तिनापुरसे बहुत दूर था। उस समय कृष्णाने आर्तभावसे 'गोविन्द!' कहकर जो मुझे पुकारा, उसका मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और यह बढ़कर बहुत अधिक हो गया है। इसका भार मेरे हृदयसे कभी दूर नहीं होता। मुझे अपराधियोंको दण्ड देकर यह ऋण उतारना है!"

(महा०, उद्योग ५९.२२)

द्रौपदीको सान्त्वना

श्रीकृष्ण शान्तिदूत बनकर हस्तिनापुर जानेवाले हैं, यह जानकर द्रौपदी उनके पास आयी और कौरवोंके अत्याचारोंका स्मरण कराती हुई बोली : 'केशव! शत्रुओंके साथ सन्धि-की इच्छासे आप जो-जो कार्य अथवा प्रयत्न करें, उन सबमें दुःशासनके हाथोंसे खींचे गये मेरे इन केशोंको याद रखें।' इतना कहते-कहते उसका गला भर आया और वह फूट फूटकर रोने लगी। श्रीकृष्णने उसे सान्त्वना देते हुए कहा : 'कृष्णे! जैसे तुम रोती हो उसी प्रकार तुम्हारे शत्रुओंकी स्त्रियाँ भी रोती देखी जायँगी। जिनपर तुम्हारा क्रोध है उनके भाई, बन्धु, मित्र और सैन्य सब मारे जायँगे। यदि कौरव मेरी बात नहीं सुनेंगे तो धरतीपर लोटेंगे और कुत्ते-सियारोंके आहार बनेंगे। हिमालय अपनी जगहसे टल जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ, नक्षत्रों सहित आकाश टूट पड़े, पर मेरी बात झूठी नहीं हो सकती। कृष्णे! आँसू रोको। मैं सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम शीघ्र ही पाण्डवोंकी विजय देखोगी':

पतेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्।
सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम्॥

(महा०, उद्योग ८२.४८-४९)

धर्मका त्याग कदापि नहीं

श्रीकृष्ण हस्तिनापुर गये। दुर्योधनने उन्हें भोजनके लिए निमन्त्रित किया। श्रीकृष्णने कहा : मैं दूत बनकर आया हूँ। दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होनेपर ही भोजन और सम्मान ग्रहण करते हैं।' दुर्योधन बोला : 'उद्देश्य सिद्ध हो या न हो, हमारे यहाँ भोजन करनेमें क्या

हर्ज है।' श्रीकृष्णने कहा : "यह दूतके लिए अधर्मकी बात होगी। मैं कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, स्वार्थसे, युक्तिवादसे अथवा लोभसे किसी तरह भी धर्मका त्याग नहीं कर सकता" :

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात्।
न हेतुवादाल्लोभाद् वा धर्मं जह्यां कथञ्चन॥ (महा०, उद्योग ९१.२४)

मित्रका कर्तव्य

विदुरजीने दुर्योधनकी दुर्भावना बताकर श्रीकृष्णको कौरव सभामें जानेसे रोका था। उस समय श्रीकृष्णने उनसे कहा : मित्रके कार्य-साधनके लिए मैं वहाँ जाऊँगा; क्योंकि—

व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते।
अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंसं विदुर्बुधाः॥
आकेशग्रहणान्मित्रमकार्यात् सन्निवर्तयन्।
अवाच्यः कस्यचिद् भवति कृतयत्नो यथाक्रमम्॥
(महा०, उद्योग ९३.१०-११)

'जो किसी व्यसन या विपत्तिमें पड़कर क्लेश उठाते हुए मित्रको यथाशक्ति समझा-बुझाकर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान् पुरुष निर्दय और क्रूर मानते हैं। जो अपने मित्रको उसकी चोटी पकड़कर भी बुरे कार्यसे हटाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वह किसीकी निन्दाका पात्र नहीं बनता।'

शान्ति कैसे मिलती है?

श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर निःस्पृह विचरता है, ममता और अहंकारको भी मनसे निकाल देता है, वही शान्ति पाता है' :

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (गीता २.७१)

× × ×

हम अमर हैं

संसारके मनुष्य सबसे अधिक मृत्युसे डरते हैं। मृत्युकी कल्पना करके बड़े-बड़े वीर पुरुषोंका भी हृदय काँप उठता है। परन्तु श्रीकृष्णने स्पष्ट शब्दोंमें इस भयका निराकरण कर दिया है। वे कहते हैं : मृत्युकी कल्पना झूठी है। न कोई मारता है, न मरता है। आत्मा अवध्य है, अजर-अमर है। उसे कोई मार ही नहीं सकता। अज्ञानसे ही मृत्युका भय होता है। शरीर नश्वर है, पुराना वस्त्र है, वह जीर्ण होगा, फटेगा, उसे कोई बचा नहीं सकता। पर उस वस्त्र या शरीरका उपयोग करनेवाला जीवात्मा उसके फटने या नष्ट होनेसे क्या कभी नष्ट हो सकता है? श्रीकृष्णकी स्पष्ट घोषणा है :

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।

जो जीवात्माको मरने-मारने वाला मानते हैं, वे अज्ञानी हैं :

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

× × ×

भक्त-वात्सल्य

श्रीकृष्ण भक्तपरवश हैं। अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन चारों प्रकारके ही भक्तोंको वे आदर देते और उदार वताते हैं। भावकी दृष्टिसे इनमें तारतम्य अवश्य है। अर्थार्थीसे आर्त, आर्तसे जिज्ञासु और जिज्ञासुसे ज्ञानी श्रेष्ठ है; तथापि भगवान्‌की दृष्टिमें ये सभी सुकृती हैं; पुण्यात्मा हैं। वे कहते हैं : 'यद्यपि मैं सम्पूर्ण भूतोंके प्रति सम हूँ, मेरा कोई द्वेषपात्र या प्रीतिपात्र नहीं है; तथापि जो भक्तिभावसे मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।' इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण यहाँ तक कहनेमें संकोच नहीं करते कि 'कोई कितना ही बड़ा दुराचारी क्यों न रहा हो, जव सब कुछ छोड़कर अनन्यभावसे मेरा भजन करने लगा हो तो उसे साधुओंकी श्रेणीमें ही गिनना चाहिए; क्योंकि उसने एक उत्तम निश्चयको अपनाया है; अब उसके धर्मात्मा होनेमें देर नहीं, अब वह शाश्वत शान्तिका अनुभव करेगा। निश्चय जानो कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता। पाप-योनिके जीव भी मेरी शरणमें आकर परमगतिके भागी होते हैं, फिर पुण्यात्माओंके लिए तो कहना ही क्या है?जीवोंपर श्रीकृष्णका यह कितना महान् अनुग्रह है। कितना उदारतापूर्ण अभय-दान है!

(गीता अध्याय ९)

× × ×

सर्वभूत-सुहृद

आजका तुच्छ धनी भी जन-साधारणसे हाथ मिलानेमें शरमाता है; पर अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीकृष्ण प्रत्येक प्राणीको अपना सुहृद घोषित करते और कहते हैं : 'तुम इतना ही जान लो कि श्रीकृष्ण तुम्हारा सुहृद है, सखा है, हितैषी है। इस ज्ञानमात्रसे सबको शान्ति मिल जायगी।'

कितना महान् आश्वासन है! श्रीकृष्ण अपने वंशीरवमें प्रत्येक जीवको पुकार-पुकार कर बुलाते और कहते हैं : 'तुम सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरण आ जाओ' मैं तुम्हें समस्त पाप-तापोंसे मुक्त कर दूंगा। तुम कदापि शोक न करो!'

श्रीकृष्णसे बढ़कर कृपालु और उदार कौन होगा? मनुष्यो! अबसे भी तो श्रीकृष्णकी शरण आ जाओ। फिर तुम्हारा बेड़ा पार है।

●

रघुपति राघव

— श्रीशिवकुमार शर्मा —

चरण - सरोरुह सीतापति के,
चूमूँ प्रतिपल जीवन मतिसे।
ज्ञानगम्य पावनतम गति से,
अमला, विमला, कमलापतिसे॥
परम पुरुष प्रियतम पुराणसे,
कौशल्या - सुतके सुवाणसे।
रविसुतके रक्षार्थं प्रमनसे,
पवनपुत्रके नीक नमनसे॥
निशिचर - कुलके दनुज - दलनसे,
भव्य भुवनप्रिय भरत चलनसे।
सरल सुमित्रा - लोचन - निधिसे,
सत्य शारदा मंगल विधिसे॥
जनक - नन्दिनी - जीवन - घनसे,
मँथित ऊर्मिलाके मृदु मनसे।
मुखर मांडवीके नैनोंसे,
श्रुतकीरतिके मधु बैनोंसे॥
दशरथ - वन्दन जनक - ध्यानसे,
वाल्मीकिके धवल ज्ञानसे।
गुरु वशिष्ठके प्रिय प्रनामसे,
सरयू - तट जीवन सुनामसे॥
विश्वामित्रके सरस स्नेहसे,
जनकपुरीके प्रबल नेहसे।
कंकनके नगके विभ्रनसे,
जग अग पग खगके चुम्बनसे॥
माँगू पल - पल पुलक प्रीतको,
नयनोंके नवनीत गीतको।
लंकापतिपर प्रबल जीतको,
रघुपति राघव मधुर मीतको॥

●

गांधीजी : युग-पुरुष

श्री सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी
भूतपूर्व उपकुलपति : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

★

गांधीजीने संसारकी मानवताको बहुत-सी मूल्यवान चीजें दी हैं। मानवता इसके लिये उनकी ऋणी रहेगी। उन सबमें 'सर्वोदय' बहुत महत्त्वशाली है। सर्वोदयका सिद्धान्त युग बदलता और गांधीजीको युग-पुरुषके रूपमें प्रस्तुत करता है।

प्राचीन भारतमें भी एक ऐसे कालका चित्र दृष्टिगोचर होता है जहाँ न राज्य था न राजा था, न दण्ड था न दाण्डिक, केवल धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् का दृश्य था। उस राज्यमें सारी प्रजा धार्मिक थी, नैतिक थी और स्वानुशासित थी। कोई भी बाहरी नियन्त्रण उस धर्मयुगमें अस्तित्वमें नहीं था। वहाँ चोर, मद्यप आदि नहीं थे। सर्वोदय उसी आदर्शको विश्वमें पुनः चरितार्थ करना चाहता है। महान् आत्माएँ मनुष्यको नीचेसे ऊपर उठाती हैं। वैसे मनुष्यके भीतरकी कुछ बुराइयाँ उसे नीचेकी ओर ले जानेवाली होती हैं। गांधीजी महान् आत्मावाले थे। नीचे जानेवाले मनुष्योंको उन्होंने बराबर ऊपर उठानेका प्रयास किया। कभी कभी जब मनुष्यमें तमोगुणका आधिक्य हो जाता है, तो धर्म लुप्त होता है, अधर्मका उत्थान हो जाता है, धरती बोझसे व्याकुल हो जाती है, मानवता कराहने लगती है। उस परिस्थितिमें कण-कणमें व्याप्त सत्ता किसी महापुरुषके रूपमें अवतरित होकर संसारका कल्याण करती है, अधर्मको रोकती है, धर्म बढ़ाती है, मानवताको मुक्त-करके धरतीका भार हल्का करती है। गीतामें कहा भी है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

गांधीजी भी इन्हीं परिस्थितियोंमें आविर्भूत एक युगपुरुष थे, अवतरित पुरुष थे। उन्होंने अहिंसाका मन्त्र फूंका। उन्होंने स्पष्ट कहा कि "अगर मनुष्य पशु नहीं है, मनुष्य है तो उसकी पहली प्रवृत्ति अहिंसा है। कोई भी जीव हिंसा पसन्द नहीं करता; क्योंकि स्वाभाविक रूपसे सभी हिंसासे डरते हैं। रामचन्द्रजी जंगलमें गये, उन्होंने बराबर हिंसाको रोकनेकी कोशिश की। जब रावण द्वारा सीता अपहृत हुई और वानरी सेना लंकामें पहुँची, रामने सबसे पहले रावणके पास अंगदको भेजा। अंगदने रावणसे कहा : "राम व्यर्थ की हिंसा नहीं चाहते, हिंसा जानवरोंका लक्षण है, वे नरसंहार, रक्तपातसे मानवताकी रक्षा चाहते हैं। सीताको चुराकर आपने अन्याय किया है। अब भी उसे दें।" इतिहासमें हिंसाको रोकनेका यह एक महान् प्रयत्न था।

हम सब जानते हैं कि महाभारतका युद्ध बड़ा विनाशकारी रहा। लेकिन इसको रोकनेके लिए कृष्ण स्वयं दूत बनकर दुर्योधनके पास गये थे। किन्तु युद्ध नहीं रुका।

राम और कृष्ण महापुरुष हैं, गांधीजी भी महापुरुष हैं। इनमें अन्तर क्या है ? सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वे महापुरुष हिंसाका मुकाबला हिंसासे करनेके लिए बाध्य हुए। किन्तु गांधीजीने ऐसा नहीं किया। गांधीजी का दृढ़ विश्वास था कि हिंसासे हिंसा दूर नहीं होगी। उसका मुकाबला अहिंसा ही कर सकती है। गांधीजीने अपने इस दृढ़ विश्वासको केवल अपने ही तक सीमित नहीं रखा, प्रत्युत इसपर समग्र राष्ट्रको चलानेका विश्वके इतिहासमें एक सर्वथा नवीन प्रयोग किया। गांधीजीने सत्य और अहिंसाको सदा व्यावहारिक रूप दिया और सदा उसपर अडिग रहे।

कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि—यह उनकी बहुत बड़ी देन है। उनका जीवन एक आदर्श जीवन था। इस भौतिकवादी युगमें धर्ममय जीवनके गांधीजी एक जीवित प्रतीक थे। उनके सारे विचार धर्मपर आधृत थे। उन्होंने रामराज्यकी घोषणा की। गांधीजीके आदर्श राम थे। रामने महावीर बालि और राक्षसेन्द्र रावणका वध किया, किन्तु उनके अपार वैभवकी ओर तनिक भी नजर नहीं घुमायी। नगर तकमें उन्होंने प्रवेश नहीं किया। रामका यह अप्रतिम त्यागमय रूप रहा। रामके जीवनमें एक और बड़ा मार्मिक प्रसंग है। जब सुग्रीवने रामके सामने रावण द्वारा अपहृत आकाशमार्गसे जाती हुई सीता द्वारा फेंके पैरके ऊपरके आभूषणोंको रखा, तो रामने लक्ष्मणसे आभूषणोंको पहचाननेके लिए कहा। लक्ष्मणने कहा : "मैं तो सीता मांके चरणोंके आभूषण ही पहचान सकता हूँ, चरणोंके ऊपर मैंने तो उन्हें आजतक देखा ही नहीं।" छोटा भाई, बड़े भाईकी पत्नीको किस तरह मातृरूपमें देखता था, रामके जीवनमें यह अपूर्व आदर्श था। इसीलिए गांधीजी के आदर्श पुरुष राम थे।

गांधीजी एक रूढ़िवादीकी तरह प्राचीनताके पुजारी नहीं थे। वे उनमें से सत्यको ग्रहण करते थे। गांधीजीके प्रयाससे ही देश स्वतन्त्र हुआ। २५-२६ वर्ष हो गये, स्वतंत्रता मिली, किन्तु गांधीजीका रामराज्य साकार नहीं हुआ, प्रत्युत देशकी दुर्दशा दिन-दिन बढ़ती जा रही है। यद्यपि आज राष्ट्रमें "सत्यमेव जयते, नानृतम्" का वाक्य अक्षरोंमें समाहृत है, उससे हम डिग गये है, गांधीजीने सत्यका साक्षात्कार किया था, एक पत्थर भी नहीं चला, प्रचण्ड साम्राज्यवादी अंग्रेज यहाँसे विदा हो गये। आप आजके चुनावमें सत्यकी दुर्दशा देखते हैं। गांधीजीने हमारे जीवनको पवित्र बनानेकी चेष्टा की थी। वे चाहते थे, हमारा अन्तःकरण निर्मल हो। गांधीजी सत्पुरुष थे। उन्होंने स्वराज्यके लिए अपूर्व त्याग किया था। किन्तु उनके सिद्धान्तों के विपरीत आज राष्ट्रके चरित्रका विगलन और सर्वत्र भ्रष्टाचारका दानवी रूप बड़ा ही कष्टकारी है। आज हमारी आत्मा बहुत दुर्बल हो गयी। गांधीजीने शस्त्रबलको कहीं महत्त्व नहीं दिया, आत्मबल उनके लिए प्रधान वस्तु थी। प्राचीन भारतमें भी वशिष्ठ और विश्वामित्रके युद्धकी चर्चा है। विश्वामित्रका सम्पूर्ण शस्त्रबल वशिष्ठके आत्मबलके समक्ष व्यर्थ हो गया था। अन्ततः विश्वामित्रको भी आत्मबलकी शरण लेनी पड़ी। आज गांधीजीके सबसे बड़े सन्देश आत्मबलकी ही देशको आवश्यकता है। आत्मबलसे ही देशकी स्वतन्त्रता रक्षित रह सकती है। ●

विजया-दशमी

★

अपराजिता जनशक्तिकी समाराधनाका पर्व

विजया-दशमी विजयका पर्व है। भारतकी राष्ट्र-लक्ष्मीका एक विदेशी दस्युद्वारा छलसे अपहरण हुआ था। भगवान् श्रीरामने जङ्गली लोगोंको संघटित करके राक्षसपुरी लङ्कापर धावा बोल दिया और उस विदेशी दस्यु रावणका दुर्ग धराशायी करके राष्ट्रलक्ष्मी सीताका समुद्धार किया। उस निशाचरराजको भी उन्होंने सपरिवार, सदलबल कालके गालमें भेज दिया। इस विजयके उपलक्ष्यमें विजयादशमीका महोत्सव मनाया जाता है। प्राचीन कालसे ही यह प्रथा चली आती है कि उस दिन नीलकण्ठका दर्शन और अपराजिता देवीका पूजन करके तथाकथित राजा लोग विजय-यात्राके लिए ससैन्य नगर या राजधानीसे बाहर निकलते हैं। शत्रु-विजयका लक्ष्य सामने न होनेपर भी केवल औपचारिक युद्धयात्रा का प्रदर्शन करते हैं।

भगवान् रामने भी रामेश्वरके रूपमें नीलकण्ठ महादेवका दर्शन-पूजन करके रणयात्रा की थी। आधिदैविक रूपमें अपराजिता शक्ति देवी दुर्गाका ही एक स्वरूप है। नौ दिनोंतक नौ दुर्गाओंकी आराधना करके दसवें दिन अपराजिताकी पूजा होती है। हमारा यह शरीर नौ द्वारोंका पुर या नगर है, इसके प्रत्येक द्वारकी रक्षा दुर्गाकी अनुकम्पा से ही होती है। अतः नौ दुर्गाओंकी आराधनासे यह नौ द्वारोंवाला शरीर या नगर सब ओरसे सुरक्षित हो जाता है। सुरक्षित, स्वस्थ एवं शौर्य-उत्साहसे सम्पन्न शरीर ही विजययात्राके लिए उपयोगी होता है। भले ही वह शरीर किसी विजिगीषु राजाका हो या वीर सैनिकका, सबको नौ दुर्गाओंका संरक्षण प्राप्त होना चाहिए। वीरवर अर्जुनने भी श्रीकृष्णकी आज्ञासे महाभारत-युद्ध आरम्भ करनेसे पूर्व देवी दुर्गाका स्तवन किया था। किसी भी राजा, शासक या सरकारके लिए अपराजिता शक्तिकी आराधना अत्यन्त आवश्यक है। अपराजिताके आधिदैविक रूपकी चर्चा ऊपर की गयी है, उनका एक लौकिक रूप भी है, वह है संगठित जनता। जनशक्तिके सहयोगके बिना कोई भी राज्य न तो सुदृढ़ हो सकता है और न टिक ही सकता है।

जनशक्ति तभी मिलती है, जब जनतारूपिणी अपराजिता शक्तिकी समाराधना की जाय। आराधनाका तात्पर्य हैं जनताको सुख-सुविधाकी वस्तुएँ सस्ते मूल्यमें उपलब्ध कराना, जन-समुदायके जान-मालकी, इज्जत-प्रतिष्ठाकी रक्षाकी गारण्टी लेना, जनवर्गको भोजन, आवास और वस्त्र आदि सुलभ कराकर उसे सब प्रकारसे सन्तुष्ट रखना और उसको चोर-व्यभिचारियों तथा दुर्दान्त दस्युओंके आतंकसे बचाना। इस तरह समाराधित होनेपर सन्तुष्ट एवं संघटित जनशक्ति राज्यसरकारका तन, मन, प्राणोंसे सहयोग करती है। संघशक्तिको

अजेय कहा गया है। संघटित जनता अजेय होती है, उसीका नाम अपराजिता शक्ति है। उसे क्रूर दमन-चक्रसे दवाया नहीं जा सकता। पाकिस्तानके शासकोंने वंगीय जनशक्तिको क्रूरता-पूर्ण दमनसे दवानेकी भरपूर चेष्टा की, परन्तु परिणाम क्या निकला ? पाकिस्तान खण्डित हो गया। दवी हुई जनता अजेय शक्तिके रूपमें उभड़ आयी और स्वतन्त्र वङ्गलादेशको स्थापना करके ही शान्त हुई। अपराजिता जनशक्ति ही किसी भी राज्यकी रक्षाके लिए दुर्भेद्य दुर्ग हैं, अविच्छेद्य कवच है। राजनीतिक स्वार्थवश जनशक्तिको छोटे-छोटे दलोंमें विभाजित करके दुर्वल वनाना राष्ट्रभक्त नेताओंके लिए कदापि उचित नहीं है। समूची जनशक्तिको राष्ट्रके कल्याणके लिए संघटित करना और उसके सहयोगसे रामराज्यकी स्थापना करके सवको सुखी वनाना ही हम सवका ध्येय होना चाहिए। विजयादशमीके पुण्यपर्वपर समस्त भारत-वासी ऐसा ही पावन सङ्कल्प लें।

शरत्पूर्णिमा

शरत्पूर्णिमा शरदऋतुका प्रमुख पर्व है, इसे रासपूर्णिमा भी कहते हैं। इसी दिन महर्षि वाल्मीकिकी जन्म-जयन्ती भी मनायी जाती है। आदिकविकी जयन्तीका पुण्यपर्व होनेसे साहित्यिक जगत्के लिए इसका ओर अधिक महत्त्व है। शरत्पूर्णिमाकी चन्द्र-रश्मियोंमें एक ऐसा अमृतका प्रवाह माना जाता है, जिसके सेवनमें मनुष्य रोगहीन, स्वस्थ होते हैं। उस दिन रातमें खीर वनाकर उसे चन्द्रज्योत्स्नामें खुले आकाशके नीचे स्थापित करके रखा जाता है और भगवान् रासेश्वरको भोग लगाकर उसे प्रसादके रूपमें ग्रहण किया जाता है। इससे अनेक प्रकारके रोगोंसे छुटकारा मिल जाता है; ऐसा वहुतोंको अनुमव है। शरत्पूर्णिमाकी रजनी भगवान् श्रीकृष्णके महारासकी पुण्यवेला है। आध्यात्मिक दृष्टिसे शरत्पूर्णिमा ब्रह्म-विद्या है। उसके आविर्भावसे अविद्याका अन्धकार मिट जाता है। हृदयाकाशमें रस-ब्रह्मका उदय होता है। जैसे शरत्पूर्णिमाकी रातमें आकाशके भीतर एकमात्र चन्द्रमा अपनी संपूर्ण कलाओंसे उदित होता है, उसी प्रकार रसस्वरूप ब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रका हृदयव्योमके अन्तरालमें प्राकट्य होता है। पूर्णिमा रसका उद्दीपक है ही। 'रसो वै सः' इस श्रुतिके अनुसार आनन्दमय रसराज श्रीकृष्णका साक्षात्कार ही ब्रह्मविद्यामें ब्रह्मानन्दका अनुमव है। यह अनुभूति ध्यान या समाधिकी स्थितिमें होती है। विशुद्ध अन्तःकरणकी जो सात्त्विक वृत्तियाँ हैं, वे ही गोपियाँ हैं। उनका ब्रह्मानन्दमें निमग्न होना ही महारासका रसास्वादन है। शरत्पूर्णिमाको अनेक स्थानोंपर भरत-मिलापका आयोजन होता है, जिससे निश्छल भ्रातृप्रेमकी प्रेरणा प्राप्त होती है।

धन्वन्तरि-त्रयोदशी या धनतेरस

कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीको आयुर्वेदके आदि उद्भावक भगवान् श्री धन्वन्तरिका प्राकट्य माना जाता है। वे समुद्र-मन्थनके समय हाथमें अमृत-कलश लेकर प्रकट हुए थे। स्थूल अमृत तो देवताओंमें वँट गया; किन्तु उनके द्वारा आयुर्वेद विज्ञानका जो अमृत इस मर्त्यलोकमें प्रकट हुआ; वह अनादि कालसे मानवोंको मृत्यु या रोगसे मुक्त करके उन्हें अमरत्व या आरोग्यकी दिशामें अग्रसर कर रहा है। आयुर्वेदमें कितने ही ऐसे औषध-योगोंका वर्णन मिलता है, जो

मृतकको जीवन देनेवाले तथा मृत्युंजयत्वकी प्राप्ति करानेवाले हैं। आधुनिक चिकित्साने अभी ऐसी सफलता नहीं प्राप्त की है कि वह एकका सिर काटकर उसे दूसरेके धड़में जोड़े और वह व्यक्ति जीवित रह जाय। आयुर्वेदने इस चमत्कारको प्राचीन कालमें प्रत्यक्ष कर दिखाया था। हमारे गणेशजी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। अश्विनीकुमारोंने दध्यङ् ऋषिका मस्तक काटकर अपने पास रख लिया और उनके घड़पर घोड़का सिर जोड़ दिया। जव वे तत्त्वज्ञानका उपदेश देने लगे, उस समय इन्द्रने वज्रका प्रहार करके उनका मस्तक काट दिया। तव अश्विनीकुमारोंने पुन: उनका निजी मस्तक जोड़कर उन्हें जीवित कर दिया था। आज आवश्यकता है, आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धतिके विकासकी, जिससे वह पुन: अपने प्राचीन गौरवपर प्रतिष्ठित हो सके। इस दिशामें वैद्यसमाज, जनता तथा सरकार सवको संयुक्त प्रयत्न करना चाहिए। इसीमें धन्वन्तरि-जयन्तीकी वास्तविक सफलता है।

हनुमज्जयन्ती

कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको नरकचतुर्दशी कहते हैं। इस दिन नरकस्थ जीवोंको सुख पहुंचानेके हेतु यमको दीपदान किया जाता है। इसी तिथिको हनुमानजी का प्रादुर्भाव हुआ, ऐसा माना जाता है। हनुमान्‌जी का दूसरा नाम महावीर है। इस नामसे उनकी प्रत्येक घरमें पूजा होती है। हम महावीरजी के गुणोंको अपनायें और स्वयं भी महावीर वननेका प्रयत्न करें। भारत सदासे महावीरोंका देश रहा है और यहाँ सदा महावीरका समादर होता आया है। भारतकी राष्ट्रलक्ष्मी सीताके समुद्धारका वहुत वड़ा श्रेय महावीरजीको ही है। वे आवाल-ब्रह्मचारी, महान् रामभक्त तथा अद्वितीय वीर हैं। हम उनके गुणगानके साथ ही उनके आदर्शोंपर चलनेकी प्रेरणा लें। यही इस पर्वका शुभ-संदेश है।

दीपावली

दीपमालिका हमारे देशका प्रमुख पर्व है। इस दिन सव लोग अपने घरकी सफाई करते और रातमें लक्ष्मीके स्वागतमें दीपमालाएँ जलाते हैं। इस पर्वका एक आध्यात्मिक अर्थ भी है। हम अपने अन्त:करणकी मलिनताओंको दूर करके उसे स्वच्छ बनायें। मलिनता अविद्या है, इसको दूर करनेसे विशुद्ध अन्त:करणमें ब्रह्मविद्याकी ज्योति जगमगा उठती है। अविद्या-तिमिरका दुर्भेद्य व्यूह टूट जाता है। फिर इस अमामें रमाका शुभागमन होता है। रमा ब्रह्मस्वरूपिणी हैं। ज्ञानकी ज्योतिमें ब्रह्मका साक्षात्कार सर्वथा संगत है। इस रातको निशीथमें दरिद्राके निष्कासनकी भी प्रथा देखी जाती है। जव घरमें लक्ष्मी आ गयीं तो दरिद्राको कौन टिकने देना चाहेगा? हम मोहमयी दरिद्राको खदेड़कर ब्रह्मभूता लक्ष्मीको अन्त:करणमें बसा लें—यही इस पर्वका गूढ रहस्य है। चतुर्दशीको रामभक्त हनुमान् या महावीरका प्रादुर्भाव हुआ था और दीपावलीको जैन-तीर्थंकर महावीरका निर्वाण। हमें दीपावलीको महावीरके उपदेशोंका भी मनन-चिन्तन करना चाहिए। द्यूतकी भी प्रथा देखी जाती है, परन्तु इसका परिणाम हानिकर है। अत: इस कुप्रथाको तो समाप्त ही कर देना चाहिए।

भगवान् धन्वन्तरि

श्री रमेशदत्त पाण्डेय

☆

धन्वन्तरिका जन्म राजा दिवोदासके रूपमें विश्व-विश्रुत काशी पुरीमें हुआ था। ये काशिराज भी हैं, इस प्रकार भगवान् धन्वन्तरि राजा दिवोदास ही हैं। राजा होते हुए भी धरातलके प्राणियोंमें व्याप्त रोगोंको देखकर उनका हृदय करुणासे आप्लावित हो गया। वे व्याकुल हो उठे और प्राणिमात्रकी पीड़ाके प्रतीकारहेतु उन्होंने व्रत ले लिया। वे आयुर्वेदके परम पारङ्गत मनीषी और समस्त ऐश्वर्योंसे सम्पन्न थे। उन्होंने आयुर्वेदकी शिक्षाका प्रचार-प्रसार किया जिससे रोगग्रस्त आतुरोंकी व्याकुलता दूर की जा सके।

पौराणिक परम्पराके अनुसार धन्वन्तरि दिवोदास देववैद्य थे, और पृथ्वीपर फैले हुए रोगजालको काटनेके लिए अवतरित हुए। यद्यपि आयुर्वेदके आठ अंग हैं, फिर भी उन्होंने शल्यप्रधान आयुर्वेदके उपदेशको विशेष प्रश्रय दिया। उनके शिष्योंने भी शल्य-प्रधान आयुर्वेदकी शिक्षा ग्रहण करनेकी जिज्ञासा प्रगट की थी :

अस्माकं सर्वेषामेव शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशतु भगवानिति।

(सुश्रुतसंहिता सूत्र० १.१०)

आयुर्वेदकी दो धाराएँ अतिप्राचीनकालसे प्रचलित हैं जिनमें शल्यप्रधान धाराके प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरि माने जाते हैं। धन्वन्तरि यह नाम भी अन्वर्थक है, जैसा कि आचार्य डल्हणने सुश्रुतकी 'निबन्धसंग्रह' व्याख्यामें कहा है :

अन्नकूट और भ्रातृ-द्वितोया

कार्तिक शुक्ल प्रतिपद्को अन्नकूटका उत्सव मनाया जाता है। उस दिन गोवर्धन-विहारीको अनेक प्रकारके भोग अर्पित करके भक्तजन प्रसाद प्राप्तकर कृतार्थ होते हैं। द्वितीया-को यमद्वितीयाका स्नान होता है। इस दिन मथुरामें यमुनाजीके किनारे बड़ा भारी मेला होता है। यम द्वितीयाको यमुना-स्नानसे यमराजका भय दूर होता है, ऐसी मान्यता है। इस तिथिको साक्षात् यम अपनी बहन यमुनाका सत्कार करनेके लिए आते हैं। प्रत्येक भाई अपनी बहनके यहाँ जाकर उसका यथोचित सम्मान करे और उसकी शुभ-कामना प्राप्त करे, यही इस पर्वका सन्देश है।

धनुः शल्यशास्त्रम्, तस्य अन्तं पारम् इयर्ति गच्छतीति धन्वन्तरिः ।

सचमुच ही अन्य रोगोंकी अपेक्षा शल्यसम्बन्धी रोग आत्ययिक और अतिशय पीड़ादायक होते हैं। इसलिए शल्यगत रोगोंकी चिकित्साका अधिक महत्त्व है। अतएव आयुर्वेदके आठों अङ्गोंमें शल्यतन्त्र सबसे प्रमुख माना गया है। उस शल्यतन्त्रके प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरिकी प्रमुखता और लोकप्रियता स्वयंसिद्ध है।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान आयुर्वेदके शल्यतन्त्रको अपनाकर ही अन्य चिकित्सा पद्धतियोंकी अपेक्षा अधिक लोकप्रिय तथा यशोभाजन हो रहा है। यह पद्धति धन्वन्तरि-युगमें आयुर्वेदके आठो अंगोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी और बहुत-से ऐसे उपाख्यान भी मिलते हैं, जिनमें वैद्यों द्वारा भग्न अंगोंका संधान किया गया। कटे सिरका संधान किया गया, भग्न नेत्रको पुनः प्रतिष्ठापित किया गया। इस प्रकार शल्यतन्त्र और उसके प्रवर्तक आचार्य धनवन्तरिकी महिमा भू-लोकमें फैल गयी। यद्यपि आयुर्वेदके प्रवर्तक भारद्वाज, अग्निवेश, प्रभृति बहुतेरे आचार्य हो चुके हैं और उन्होंने आयुर्वेदके एक-एक अंगपर अपनी संहिताओंका निर्माण किया है। किन्तु आज लोकमें उनका नाम भी अवशिष्ट नहीं है। दूसरो ओर क्या शिक्षित, क्या अशिक्षित, सर्वसाधारण-जनमें धन्वन्तरिका नाम बड़े आदर और सम्मानके साथ लिया जाता है। ऐसा लगता है कि जैसे आज शल्यचिकित्साका महत्त्व समझा जाता है और उसका श्रेय एलोपैथीको प्राप्त है, ठीक इसी प्रकारकी स्थिति धन्वन्तरि-युगमें आयुर्वेदीय शल्यचिकित्सा की रही होगी और उसका श्रेय धन्वन्तरि दिवोदासको था।

आज आयुर्वेदके प्रति लोगोंकी धारणा बदली हुई-सी दीख पड़ती है। इसका एकमात्र कारण है कि वैद्योंने शल्यकर्ममें उदासीनता दिखलायी। यदि वैद्यसमाज भगवान धन्वन्तरि द्वारा प्रवर्तित और आधुनिक शल्यविशेषज्ञों द्वारा समृद्ध किये हुए शल्यतन्त्रको अपना ले, तो आयुर्वेदको खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त हो सकती है।

कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीको, जो भगवान् धन्वन्तरिका जन्म दिवस है, आजके लोग 'धनतेरस' कहते हैं। वस्तुतः 'धन्वन्तरि त्रयोदशी'का ही अपभ्रंश है धनतेरस। धनतेरसका त्यौहार हम सब मनाते तो हैं, किन्तु उसके वास्तविक स्वरूपको हृदयङ्गम नहीं कर पाते। वस्तुतः यह धनका त्यौहार न होकर स्वास्थ्यका त्यौहार है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतमें बहुत-से नये त्यौहार प्रचलित हो गये, किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इस स्वास्थ्यपर्वपर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया है। किसी भी राष्ट्रकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है राष्ट्रिय स्वास्थ्य और इसी धारणाको लेकर प्राचीन कालसे धन्वन्तरि-त्रयोदशीका पर्व प्रचलित है। अज्ञतावश कुछ स्वार्थपरायण वणिक्जनोंने इसे धन बढ़ानेका त्यौहार मान लिया और आम जनतामें उस दिन नये पात्र खरीदकर त्यौहार मनानेका प्रचार हो गया। आवश्यकता इस बातकी है कि धनतेरसके बारेमें फैले हुए भ्रमको दूरकर इसे धन्वन्तरि त्रयोदशीके रूपमें राष्ट्रिय पर्वकी मान्यता दी जाय। उस दिन सार्वजनिक छुट्टी दी जाय, स्वास्थ्यके संदेश प्रचारित किये जायँ, स्वच्छताका अभियान चलाया जाय और दीन हीन-दुःखी जनोंकी सेवाका व्रत लिया जाय।

●

वर्धमान महावीरका निर्वाणोत्सव : दीपावलि

डॉ० जयकिशनप्रसाद खण्डेवाल

एम० ए०, एल-एल० बी०, पी० एच० डी०

★

तिलोए सव्व जीवाणं हिदं धम्मोवेदसिणं।
वड्ढमाणं महावीरं वंदेहं सव्ववेदिणं॥

मैं तीन लोकोंके समस्त जीवोंके हितकर, धर्मोपदेशदाता, सर्वज्ञ वर्धमान महावीरका वन्दन करता हूँ।

जीवन-रेखा

विदेह-देशस्थित (मिथिला-प्रदेशका) लिच्छिवि गणतन्त्र भारतका प्राचीनतम गणराज्य था। इसके गणमुख्य राजा चेटक इतिहासप्रसिद्ध यशस्वी क्षत्रिय थे। इनके गण-तन्त्रकी सुदृढ़ता इसीसे स्पष्ट है कि इन्होंने विस्तारवादी सम्राट् अजातशत्रुसे १४ वर्षतक वीरतापूर्वक लोहा लिया। इस गणतन्त्रकी एकता एवं संघटनसे गौतम बुद्ध बहुत प्रभावित थे। उन्होंने लिच्छिवियोंकी समता देवताओंसे की है। राजा चेटकके सात कन्याएँ थीं, जिनमें त्रिशला सबसे बड़ी और अत्यन्त सुन्दर थी। उसके शील-सौजन्यको देखकर माता-पिताने उसका एक अन्य नाम 'प्रियकारिणी' रखा। उसका यह नाम उसके सौम्य स्वभाव एवं त्रैलोक्य-अनुपम सौन्दर्यके उपयुक्त था। जब त्रिशला-प्रियकारिणी युवावस्थाको प्राप्त हुई, तो चेटकने उसका विवाह भूपाल-शिरोमणि वैशाली गणतन्त्रके प्रमुख राजा सिद्धार्थके साथ कर दिया।

कुण्डपुर या कुण्डलपुरके राजा सिद्धार्थका सात मंजिलका नन्द्यावर्त नामक राजप्रासाद था। राजा उसमें अपनी नवपरिणीता रानी त्रिशला के साथ वृषभदेव और पार्श्वनाथ आदि तीर्थङ्करोंकी भक्ति-पूजा करते हुए अत्यन्त सुखपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। तभी आषाढ़ सुदी ६ शुक्रवार १७ जून ई० पू० ५९९ को प्रियकारिणी त्रिशलाने रात्रिमें सोलह शुभ स्वप्न देखे।

प्रातःकाल त्रिशलाने अपने स्वामी राजा सिद्धार्थसे उनका फल पूछा। राजाने विचार करके कहा : 'रानी तुम्हारे गर्भसे एक महान् पुत्र जन्म लेगा, जो आत्मकल्याणके साथ ही विश्वका भी महान् कल्याण करेगा।' रानीका मन प्रफुल्लित हो उठा। सहसा उसके मुखसे हृदयकी बात फूट पड़ी : 'क्या ? सच ! मैं ऐसे महान् पुत्रकी जननी बनूँगी !' रानीका हृदयकमल खिल उठा। तीर्थङ्करकी माताकी सेवामें इन्द्रने ५६ दिव्य-कुमारी देवियाँ भेजीं। धीरे-धीरे वह घड़ी भी आ पहुँची, जब विश्वको अहिंसाका परम विशुद्ध मार्ग दिखलानेवाला वर्धमान महावीर चैत्र सुदी १३ सोमवार २७ मार्च ईसापूर्व ५९८ को माताके गर्भसे प्रकट हुआ।[1] देवताओंने प्रसन्न होकर राजा-प्रासाद तथा नगरपर रत्नोंकी वर्षा की। उसके प्रकट

---

१. चैत्रसितपक्षफाल्गुनीशशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम्।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥—निर्वाणभक्ति, ६

होनेसे चारों ओर समृद्धि छा गयी। बालकको सतत बढ़ने तथा बढ़ानेवाला देखकर उसका नाम 'वर्धमान' रखा गया।

बाल-लीलाएँ

बालक वर्धमानकी अनेक बाललीलाएँ प्रसिद्ध हैं। एकबार संगम नामक देवने उनके धैर्यकी परीक्षाके हेतु भयंकर सर्प का रूप धारण किया। बालक वर्धमानने उसे निडर हो पकड़ लिया और दूसरी ओर छोड़ दिया। बालक वर्धमानकी आमली-क्रीडाका चित्र एक शिलापट्टपर उत्कीर्ण मिला है, जो मथुरा-म्यूजियममें है। वह बालपनसे ही अतिवीर, सुवीर एवं महावीर थे तथा देवकुमार और राजकुमारोंके साथ वटवृक्षके नीचे खेला करते थे।

सन्मति नाम पड़ा

कुमार वर्धमान बालपनसे ही मति, श्रुति और अवधि ज्ञानके धारक थे। अतः अल्पकालमें ही उन्होने समस्त विद्या प्राप्त कर ली। पुराणोंमें उनके मेधावी एवं सन्मति होनेकी चर्चा मिलती है। उन्हें देखने मात्रसे ही संजयन्त और विजयन्त दो मुनियोंकी शंकाओंका निरसन हो गया। वे वर्धमानसे अनेक शंकाओंका समाधान प्राप्त करने आये थे। किन्तु दूरसे झूलेमें झूलते देखकर ही परम संतुष्ट हो कुमार वर्धमानका 'सन्मति' नाम रखकर चल पड़े।

आत्मचिन्तनमें लीन

कुमार वर्धमान अत्यन्त मनस्वी एवं गम्भीर थे। वे नन्द्यावर्त राजप्रासादमें रहते हुए भी एकान्तप्रिय एवं विरक्त थे। वे उस वैभवमें निर्लिप्तभावसे जलमें कमलवत् रहते थे। प्रायः राजभवनके किसी एकान्त कक्षमें बैठे आत्मचिन्तनमें लीन रहते। युवावस्थाको प्राप्त होनेपर भी उनमें संसारके भोगोंके प्रति स्पृहा नहीं थी और न था यौवनजन्य चित्त-चाञ्चल्य। वे मानवके हृदयमें सोयी हुई करुणा एवं विश्वमैत्री तथा जीवमैत्रीको जाग्रत् करने-हेतु उपाय चिन्तन करने लगे। क्षत्रिय राजकुमारके हृदयमें जीव-दयाके भावोंने करुणाका स्रोत वहा दिया। उनका चिन्तन दिनों दिन बढ़ने लगा। जब उनके विवाहके लिए कलिंगके राजाकी पुत्री यशोदाका प्रस्ताव प्राप्त हुआ, तो उनके पिताने उनसे गृहस्थधर्मका पालन करनेके लिए कहा। किन्तु वर्धमानने विवाहसे इनकार कर दिया। वे तो आत्मकल्याण-हेतु मुक्तिरूपी वधूसे परिणय करनेको कटिबद्ध थे। विरक्तमना वर्धमानको माता-पिता किसी भी प्रकार संसारके प्रति अनुरक्त न बना सके। तभी आ गये लौकान्तिक देव, कुमार वर्धमानको स्मृति दिलाने। उन्होंने कहा : 'हे प्रभु ! आप तो संसारके जीवोंका उद्धार करनेके लिए अवतरित हुए है। आप तपश्चर्या करके कर्मक्षयके द्वारा उस महान् पदको प्राप्त करें, जिसे 'सिद्धपद' कहते हैं।'

दीक्षा-कल्याणक : 'महावीर' नाम पड़ा

राजकुमार वर्धमान भरी यौवनावस्थामें उस वैभवका दिनदहाड़े परित्याग करके चल दिये। आज सरकार राजाओंसे प्रिवीपर्स छुड़ा रही है और वे नहीं छोड़ना चाहते। महावीरने २५०० वर्ष पूर्व ही स्वेच्छासे प्रिवीपर्स और राजकीय अधिकारोंको नश्वर जानकर

उनका परित्याग कर दिया। लोकान्तिक देवों द्वारा लायी पालकीमें बैठकर वे मगशिर कृष्ण १० सोमवार २९ दिसम्बर ५६९ ईसापूर्वके दिन ज्ञातृवन-खण्ड गये और मुनिदीक्षा लेकर दिगम्बर हो शालवृक्षके नीचे तप करने लगे। उन्होंने दीक्षाके दो दिन बाद राजा बकुलके महलमें आहार लिया। वे बारह वर्षतक कठोर तपश्चर्या करते रहे। पुराणोंमें वर्णन मिलता है कि रुद्रने अनेक उपसर्ग किये. किन्तु वे अविचलित बने रहे। इसीलिए 'महावीर' कहलाये।

केवलज्ञान और देशना

वर्धमान महावीरको वैशाख सुदी १० रविवार २३ अप्रैल ईसा पूर्व ५५७ के दिन केवलज्ञान प्राप्त हुआ। वे आत्मज्ञ थे, किन्तु उनके ज्ञानमें सर्वज्ञता थी। समस्त विश्वका ज्ञान निरपेक्ष भावसे उनमें झलकता था। उन्होंने प्रथम देशना—अपने केवलज्ञानका प्रकाश जनतामें फैलानेको—श्रावण वदी १ मंगलवार २८ जून ई० पू० ५५७ को विपुलाचल पर्वत राजगृहमें दी। गणधरके अभावमें केवलज्ञानके ६६ दिन बाद उनकी वाणी गौतम ऋषिके शिष्य बननेपर खिरी। महावीरके समवशरण-धर्मसभामें जहाँ एक ओर मगधसम्राट् श्रेणिक आता था, वहीं सकडाल नामका कुम्हार भी उपस्थित होता था। उनकी धर्मसभामें देवता, मनुष्य, पशु पक्षी सभी समभावसे उपस्थित होते थे। महावीर स्वामीने धर्मकी बातें जनभाषा (प्राकृतभाषा) में लौकिक दृष्टान्तों द्वारा समझायीं जो शीघ्र हर किसीके मनमें बैठ जाती थीं। इसलिए उनकी वाणी सर्वग्राह्य मानी जाती थी। उनके उपदेशकी भाषा मृदु, स्पष्ट एवं हितकारी दिव्यध्वनि थी। वह आबाल-वृद्धके लिए सुलभ थी।

मंगलविहार और निर्वाण

महावीर स्वामी तीस वर्षतक भारतवर्षके विभिन्न नगरोंमें भ्रमण करते हुए धर्मोपदेश देते रहे। उन्होंने अहिंसाको परम धर्म घोषित किया। संक्षेपमें उनके प्रमुख उपदेश ये थे :

"जिओ और जीने दो, किसी जीवको कष्ट मत दो। सत्यका सदैव आचरण करो। चोरी करना पाप है। शीलव्रतका पालन करो। आवश्यकतासे अधिक वस्तुएँ (परिग्रह) एकत्र मत करो।"

महावीर तीर्थङ्कर थे—'तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थम् इति।' वे सच्चे अर्थोंमें तीर्थ थे। उन्होंने अहिंसामूलक अनेकान्तवादका प्रवर्तन किया।

तीस वर्षतक धर्म-प्रभावना करते हुए भगवान् महावीर मल्लोंको राजधानी पावा-नगर (वर्तमान सठियाँव गाँव, जिला देवरिया) पहुँचे और वहाँ राजा हस्तिपालके उद्यानमें मणिशिला-तले कार्तिक कृष्णा ३० मंगलवार १५ अक्तूबर ५२७ ई० पू० को निर्वाण प्राप्त किया। हस्तिपाल आदि १८ गणमुख्योंने दीपकोंकी अवलि सजाकर महावीर-निर्वाणोत्सव मनाया। उस महान् ज्योतिके प्रकाशसे अमावास्यामें भी धरती और प्रकाश जगमग हो उठा। महावीर स्वामीका २५०० वाँ निर्वाणोत्सव १९७४ की दीपावलीपर समस्त विश्वमें मनाया जा रहा है।

अन्तरराष्ट्रीय अतिथि-गृह उद्घाटन-समारोहकी झलकियाँ
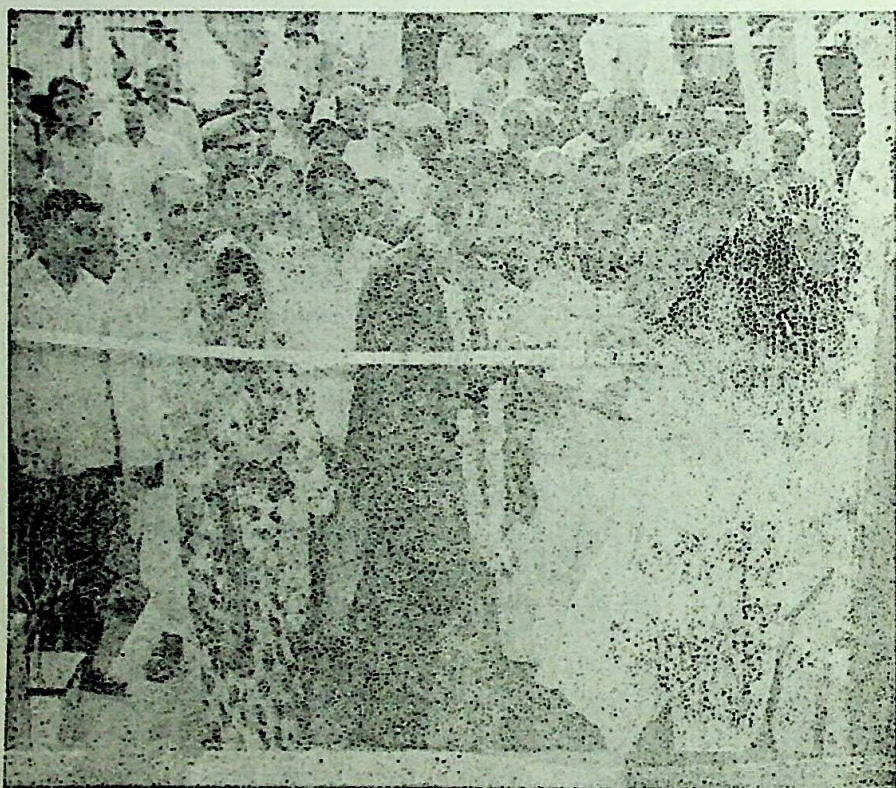
डॉ० कर्णसिंह : श्रीमती कृष्णादेवी डालमिया अन्तर्राष्ट्रीय अतिथिगृहका उद्घाटन करते हुए।
पं० बलराम मिश्र मन्त्रोच्चारण कर रहे हैं।
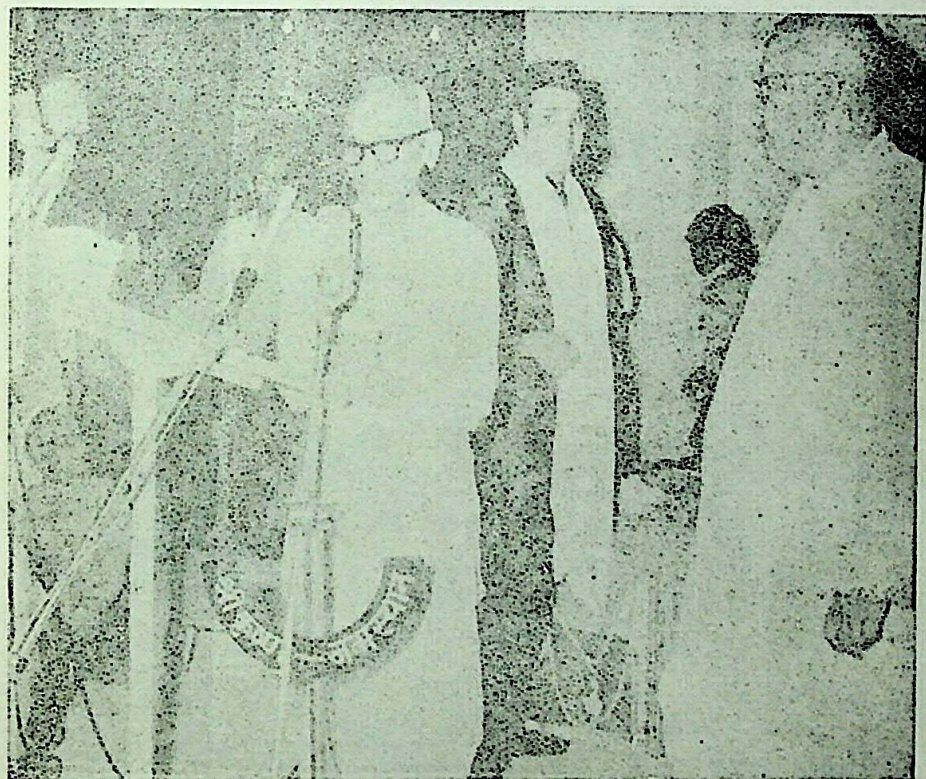
श्री जयदयालजी डालमिया जन्मस्थानकी ओरसे अतिथियोंको धन्यवाद दे रहे हैं।
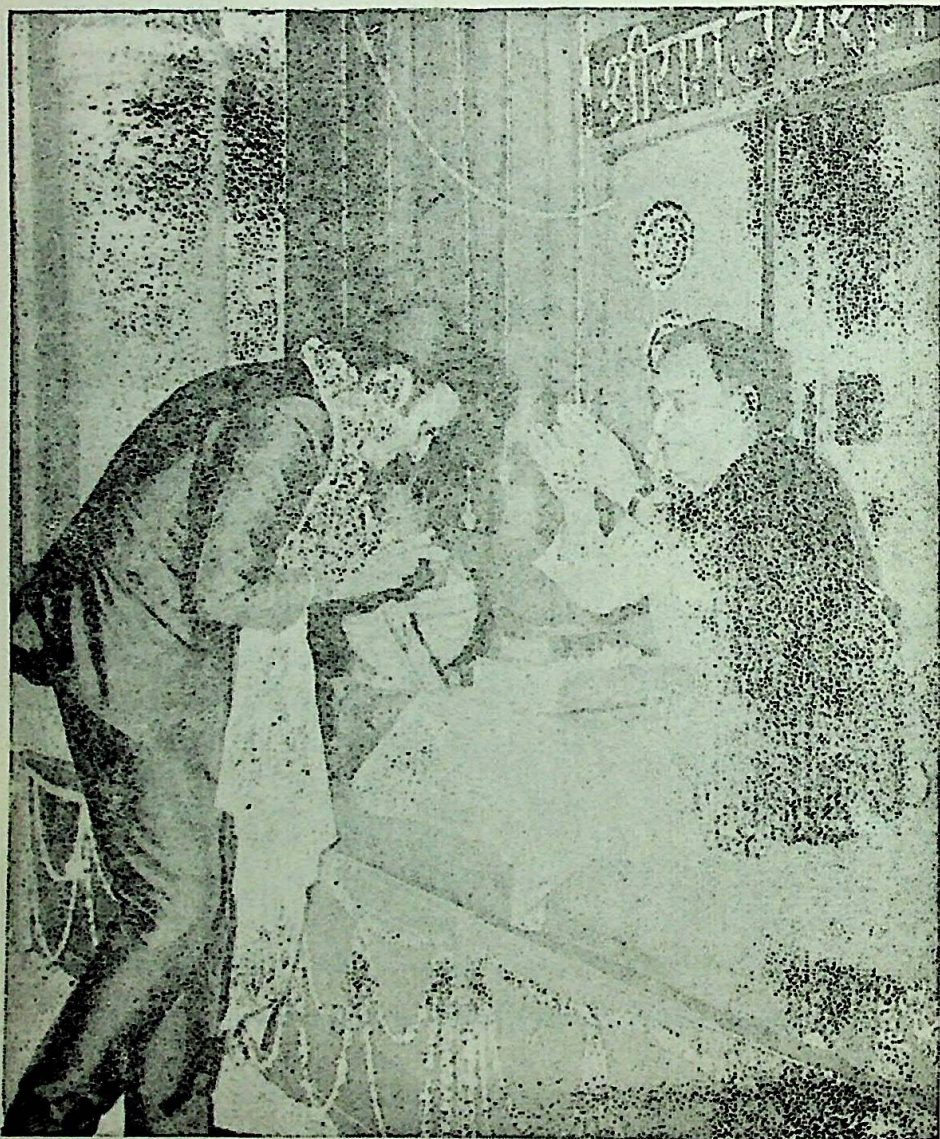
डॉ० कर्णसिंह : मानसमार्तण्ड पं० रामकिंकरजी उपाध्यायका अभिनन्दन करते हुए।
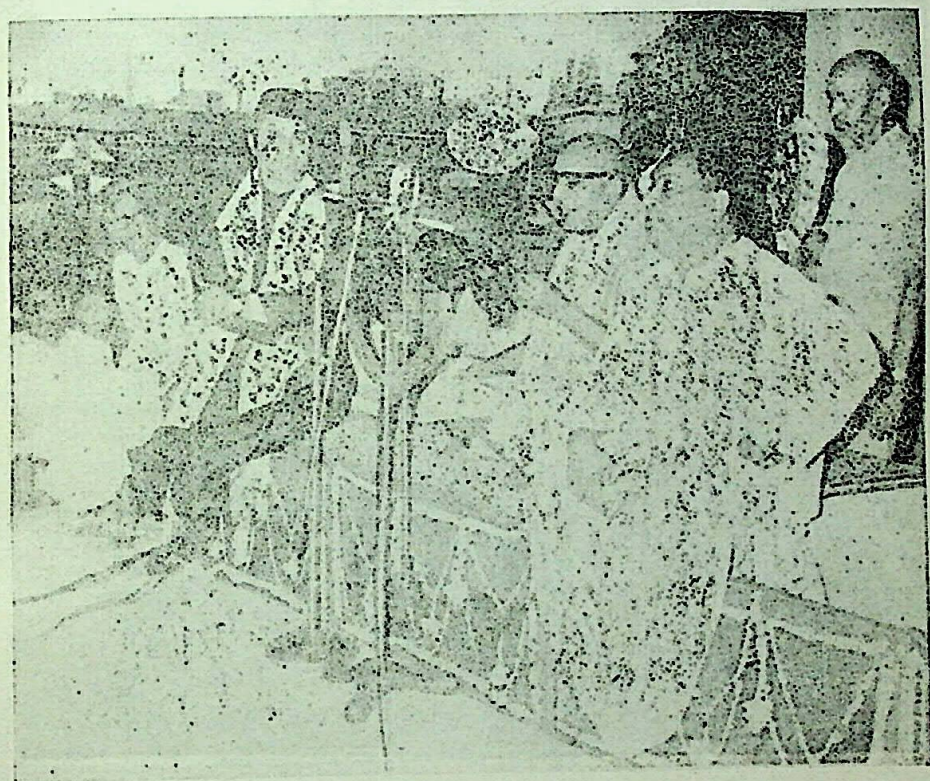
अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी : प्रवचन करते हुए।

डालमिया परिवारकी महिलाएँ : महारानी यशोराजलक्ष्मी एवं प्रदेशकी राज्यमंत्री वेगम हवीवुल्लाका आतिथ्य करते हुए।

नीति-वचनामृत

१.

वन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः ।
को न दृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः ।।

वन्धु कौन दुर्जननको माँगे को न रिसाय ।
को कुकरम-पण्डित नहीं को न मत्त धन पाय ।।

२.

पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।।

दूध पिआइब अहिनको विषवर्धनको हेतु ।
मूढनको सिख कोपप्रद नहिं सुशान्तिको सेतु ।।

३.

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छाया - समन्वितः ।
यदि दैवात् फलं नास्ति च्छाया केन निवार्यते ।।

फल-छाया-युत ही सदा सेइय वृक्ष महान ।
फल न होय जदि दैववस तो दुर्लभ छाया न ।।

●

सूक्ति-सुधा

कनकधारा-स्तव

२.

मुग्धा मुहुर्विदधती वदने मुरारेः
प्रेमत्रपाप्रणिहितानि गतागतानि ।
माला दृशोर्मधुकरीव महोत्पले या
सा मे श्रियं दिशतु सागरसम्भवायाः ।।

जैसे सरसीमें खिले नीलसरोरुहपर—
आती-जाती बारबार लुब्ध अलिवाला वह,
सुषमा-सदन वैसे हरिके वदनपर
डालती हुई जो छवि-जालक निराला वह ।
प्यार से निहारती ललक अपलक फिर—
झुक जाती लाजसे बनाके नतभाला वह,
मेरेलिए विभव अपार दे उदार मुग्ध
वारिनिधि-बालाके विलोचनोंकी माला वह ।।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, ढुण्ढिराज,
वाराणसी—१ में मुद्रित एवं प्रकाशित